The Jain Antiquary

Vol XXXI. No.—2 भाग— ३१, किरण—२

जैन-सिद्धान्त भास्कर

जैन पुरातत्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

वि० सं० २०३५ वीर निर्वाण २५०५

दिसम्बर १९७८

भाग ३१ किरण २

सम्पादक

डा० ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी, पी-एच० डी०

प्रकाशक

श्री सुबोध कुमार जैन, मन्त्री

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

एवं

जैन सिद्धान्त भवन

आरा : बिहार

वार्षिक शुल्क भारत में २०) विदेश में ३०) एक प्रति १०)

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भाग -३१ } दिसम्बर १९७८ { किरण-२

जैन साहित्य और शिल्प में यक्षी अम्बिका

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

-●—

जैन देवकुल में २४ जिनों (या तीर्थंकरों) को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्रदान की गई थी। अन्य सभी देवों को जिनों के सहायक रूप में कल्पित किया गया था। यक्ष-यक्षी युगलों को जिनों के उपासक देवों के रूप में निरूपित किया गया था; जो जिनों के चतुर्विध संघ के रक्षक और शासन देवता होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद सभी जिनों ने अपना पहला उपदेश एक देवनिर्मित सभा (समवसरण) में दिया था। इसी सभा में इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष-यक्षी युगल को शासन देवता के रूप में नियुक्त किया था। यद्यपि आठवीं-नवीं शती तक सभी जिनों के साथ स्वतंत्र यक्ष-यक्षी युगलों को संश्लिष्ट किया जा चुका था, पर उनके लाक्षणिक स्वरूपों के निरूपण की प्रक्रिया ग्यारहवीं बारहवीं शती में ही पूर्ण हुई थी। यक्ष-यक्षी युगलों को जिन मूर्तियों के सिंहासन या पीठिका के दाहिने और बायें छोरों पर उत्कीर्ण किया जाता था। नवीं शती से उनकी स्वतंत्र मूर्तियां भी प्राप्त होने लगती हैं।

अम्बिका जैन देवकुल के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी है। इसे आम्रा देवी एवं कुष्माण्डिनी नामों से भी सम्बोधित किया गया है। अंबिका की गणना जैन देवकुल की चार सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों में की जाती है। अन्य लोकप्रिय यक्षियाँ चक्रेश्वरी, पद्मावती एवं सिद्धायिका हैं, जो क्रमशः पहले, २३ वें एवं २४ वें जिनों ऋषभनाथ; पार्श्वनाथ और महावीर की यक्षियां हैं। जैन यक्षी अम्बिका या कुष्माण्डिनी को सामान्यतः हिन्दू देवी दुर्गा एवं अम्बिका से प्रभावित स्वीकार किया जाता है। पर जैन परम्परा में अम्बिका की प्राचीनता से संबंधित उल्लेख एवं हिन्दू और जैन अम्बिका के स्वरूपों में प्राप्त होनेवाली भिन्नता जैन यक्षी अम्बिका के हिन्दू प्रभाव से मुक्त रहे होने का संकेत देते हैं। दुर्गा को

यद्यपि अम्बिका और कुष्माण्डी नामों से भी संबोधित किया गया है, और उसका वाहन कभी महिष और कभी सिंह बताया गया है, पर उसकी भुजाओं के आयुध (वरद–या अभय मुद्रा चक्र एवं शंख) जैन यक्षी से सर्वथा भिन्न हैं। हिन्दू देवी अम्बिका को त्रिनेत्र एवं सिंह पर आरूढ़ बताया गया है, और उसके हाथों में वरदमुद्रा, दर्पण, खड्ग एवं खेटक के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है। दूसरी ओर जैन अम्बिका का वाहन तो सिंह है: पर भुजाओं में वह बालक, आम्रलुंबि, पाश, अंकुश एवं पद्म धारण करती है।

एक मध्ययुगीन जैन तांत्रिक ग्रंथ अम्बिका–तांटक में जैन अम्बिका के सम्बन्ध में प्राप्त विवरण देवी के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं के सन्दर्भ मे स्पष्टतः हिन्दू देव शिव का प्रभाव दरशाता है। ज्ञातव्य है कि जैन अम्बिका पर शिव के प्रभाव का संकेत देने वाला यह अकेला जैन ग्रंथ है। ग्रंथ में अम्बिका के भयावह एवं प्रलयंकारी स्वरूप का स्मरण किया गया है, और उसे सृष्टि की संहारकर्त्री बताया गया है। धनुष, बाण, वज्र, खड्ग, चक्र एवं पद्म आदि से युक्त अम्बिका को शिवा, शंकरा, मोहिनी, शोषणी, भीमनादा, चण्डिका, वज्रडरूपा एवं अघोरा आदि नामों से संबोधिती किया गया है।

अम्बिका जैन देवकुल की प्राचीनतम यक्षी है। उसके लाक्षणिक स्वरूप का निर्धारण छठीं शती के पूर्व हो गया था। प्राचीन परम्परा की यक्षी होने के कारण ही शिल्प में यक्षियों में सर्वप्रथम अम्बिका को निरूपित (छठी शती) किया गया था। नवी शती तक सभी क्षेत्रों की मूर्तियों में अधिकांश जिनों के साथ यक्षी रूप मे अम्बिका को ही उत्कीर्ण किया गया था। गुजरात और राजस्थान के श्वेतांबर स्थलों की जिन मूर्तियो में नवी शती के बाद भी सभी जिनों के साथ सामान्यतः अम्बिका ही निरूपित है। केवल ऋषभनाथ एव पार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियो में ही अम्बिका के स्थानपर पारंपरिक यक्षियाँ आमूर्तित हैं। इस प्रकार नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका का मूर्त चित्रणो में अन्य जिनों के साथ निरूपण उसकी लोकप्रियता और प्राचीनता का सूचक है।

ग्रंथों में अम्बिका: –श्वेतांबर परम्परा में अम्बिका की उत्पत्ति की विस्तृत कथा जिन–प्रभ सूरि कृत 'अम्बिका देवी कल्प' (१४०० ई०) मे प्राप्त होती है। दिगम्बर कथा 'पुण्याश्रव कथा' के यक्षी कथा प्रसंग मे वर्णित है। श्वेतांबर ग्रंथ में अम्बिका (या अंबिणी) के पुत्रों के नाम सिद्ध एवं बुद्ध, और दिगम्बर ग्रंथ मे शुभंकर एवं प्रभंकर बताए गए हैं। श्वेताबर ग्रंथ के अनुसार अम्बिका पूर्व जन्म मे सोम ब्राह्मण की भार्या थी; जिसे किसी अपराध पर उसके पति ने घर से निकाल दिया। भूख–प्यास से व्याकुल अम्बिका और उसके दोनो पुत्रों की सहायता के लिए मार्ग का सूखा आम्र वृक्ष फलों से लद गया और सूखा कुआं जल से भर गया। अम्बिका ने आम्रफल एवं जल ग्रहण कर उसी वृक्ष के नीचे

विश्राम किया। कुछ समय पश्चात् सोम अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करता हुआ अम्बिका को ढूंढने निकला। सोम को आते देखकर भयवश अम्बिका ने दोनों पुत्रों के साथ कुएँ में कूद कर आत्महत्या कर ली। वही अम्बिका अगले जन्म में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी के रूप में उत्पन्न हुई, और उसके दोनों पुत्र इस जन्म में भी उससे संबद्ध रहे। पूर्वजन्म का पति (सोम) उसका वाहन सिंह, और आम्रफल के गुच्छक प्रमुख लक्षण हुए।

श्वेताम्बर ग्रंथ निर्वाणकलिका (१० वीं शती) में सिंहवाहना चतुर्भुजा कुष्माण्डी की दाहिनी भुजाओं में मातुलिंग फल एवं पाश, और बायीं में पुत्र एवं अंकुश के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है (१८. २२)। समान लक्षणों का उल्लेख करने वाले अन्य सभी ग्रंथों में मातुलिंग के स्थान पर आम्रलुंबि के प्रदर्शन का उल्लेख प्राप्त होता है।

......अंबादेवी कनककान्तिरुचिः सिंहवाहना चतुर्भुजा
आम्रलुंबिपाशयुक्तदक्षिणकरद्वया पुत्रांकुशासक्तवामकरद्वया च ॥
प्रवचनसारोद्धारः सर्ग २२, पृ० ९४

स्तुतिचतुर्विंशतिका मे अम्बिका के समीप उसके दोनों पुत्रों के निरूपण का उल्लेख है। दिगम्बर ग्रंथ प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२ वीं शती) में सिंहवाहना कुष्माण्डिनी (या आम्रादेवी) को द्विभुजा एवं चतुर्भुजा बताया गया है, पर भुजाओं के आयुधों का उल्लेख नहीं किया गया है। एक अन्य दिगम्बर ग्रंथ प्रतिष्ठासारोद्धार (१३ वीं शती) के अनुसार द्विभुजा अम्बिका की दाहिनी भुजा मे आम्रलुंबि और बायीं में पुत्र प्रदर्शित होगा। आम्रवृक्ष की छाया में अवस्थित यक्षी के समीप ही दूसरा पुत्र भी निरूपित होगा (३. १७६)। दिगम्बर परम्परा के एक तांत्रिक ग्रंथ में सिंहासन पर विराजमान चतुर्भुजा अम्बिका के करों में शंख, चक्र, वरदमुद्रा एवं पाश के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है। दक्षिण भारत के ग्रंथों मे अम्बिका का धर्मदेवी के नाम से उल्लेख प्राप्त होता है, और उसका वाहन सिंह बताया गया है। चतुर्भुजा धर्मदेवी के दो ऊपरी हाथों में खड्ग एवं चक्र प्रदर्शित हैं, जबकि निचली भुजाएं गोद मे बैठे दोनों बालकों को सहारा दे रही हैं। कुछ ग्रंथों में देवी की भुजा मे आम्रलुंबि के प्रदर्शन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार गोद में एक के स्थान पर दो बालकों का प्रदर्शन और भुजा में आम्रलुंबि का सामान्यतः अनुपस्थित रहना दक्षिण भारतीय परंपरा की अपनी विशेषताएं हैं।

मूर्त अंकनों में अम्बिका

मूर्त चित्रणों में अम्बिका का द्विभुज एवं चतुर्भुज स्वरूपों में निरूपण ही विशेष लोकप्रिय रहा है। द्विभुज मूर्तियों में सिंहवाहना अम्बिका के करों में सर्वदा आम्रलुंबि एवं बालक (गोद में अवस्थित) प्रदर्शित किया गया है। चतुर्भुज मूर्तियों में यक्षी की भुजाओं

में पूर्ववत् आम्रलुंबि और बालक धारण करती है, जबकि अन्य दो भुजाओं में पाश, अंकुश, पद्म, आम्रलुंबि, त्रिशूल-घण्ट एवं वरद-या अभय मुद्रा में से कोई दो प्रदर्शित हैं। देवी या तो एक पैर नीचे लटका कर ललितमुद्रा में बैठी है या फिर समभग, द्विभंग या त्रिभंग में खड़ी हैं। देवी के शीर्षभाग में आम्रफल के गुच्छक, और पार्श्व में दूसरा बालक भी आमूर्तित होता है। गुजरात एवं राजस्थान से श्वेतांबर परम्परा की मूर्तियां प्राप्त होती है, जबकि अन्य क्षेत्रों की मूर्तियां दिगंबर सम्प्रदाय से संबद्ध हैं।

अम्बिका की प्राचीनतम स्वतंत्र मूर्ति अकोटा (गुजरात) से प्राप्त होती है। छठी सातवीं शती की इस द्विभुज मूर्ति में अम्बिका आम्रलुंबि एव फल से युक्त है सिंहवाहना यक्षी की गोद में एक बालक अवस्थित है। दक्षिण पार्श्व में दूसरा पुत्र भी आमूर्तित है। अकोटा से समान विवरणों वाली आठवीं से दसवीं शती की छः अन्य अम्बिका मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं। आम्रलुंबि एवं बालक धारण करने वाली सिंहवाहना द्विभुज अम्बिका की एक अन्य मूर्ति ओसिया (जोधपुर, राजस्थान) के महावीर मन्दिर (८ वीं शती) के प्रवेशद्वार पर उत्कीर्ण है। समान लक्षणों वाली दसवीं से बारहवीं शती की कई मूर्तियां राजस्थान स्थित घाणेराव के महावीर मन्दिर, विमलवसही, लूणवसही, नाडलाई के आदिनाथ मन्दिर, ओसिया की देवकुलिकाओं एवं गुजरात स्थित कुंभारिया (शांतिनाथ, महावीर, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ संभवनाथ) एवं तारंगा (अजितनाथ) के जैन मन्दिरों से प्राप्त होती हैं। श्वेतांबर स्थलों पर अम्बिका का द्विभुज स्वरूप विशेष लोकप्रिय रहा है। पर साथ ही कुछ चतुर्भुज मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं जिनके उदाहरण गुजरात में कुंभारिया, तारंगा, और राजस्थान में विमलवसही, लूणवसही एवं जालोर के जैन मन्दिरों से प्राप्त होते हैं। चतुर्भुज मूर्तियों में सामान्यतः अम्बिका की तीन भुजाओं में आम्रलुंबि और एक में बालक स्थित है। स्मरणीय है कि तीन भुजाओं में आम्रलुंबि का प्रदर्शन श्वेताम्बर ग्रंथों के निर्देशों का स्पष्ट उल्लंघन है। केवल तारंगा, जालोर एवं विमलवसही की बारहवीं शती की तीन मूर्तियों में ही श्वेतांबर ग्रंथों के निर्देशों के अनुरूप देवी की दो भुजाओं में आम्रलुंबि एवं बालक प्रदर्शित है, और अन्य दो में पाश एवं चक्र (या वरदमुद्रा) प्रदर्शित है।

उत्तर प्रदेश में अम्बिका की प्रारंभिकतम मूर्ति ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ के मंदिर : १२ (शांतिनाथ मंदिर) से प्राप्त होती है। ८६२ ई० में निर्मित मन्दिर : १२ की भित्ति पर जैन देवकुल की सभी २४ यक्षियों को आमूर्तित किया गया है। २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का यह प्राचीनतम उदाहरण है। 'अम्बायिका' नाम से उत्कीर्ण चतुर्भुजा यक्षी के करों में पुष्प, चामर, पद्म एवं पुत्र स्थित हैं। स्पष्ट है कि आम्रलुंबि

एवं सिंहवाहन को देवगढ़ में नवीं शती तक अम्बिका से नहीं संबद्ध किया गया था। पर गुजरात एवं राजस्थान में इन तत्वों का सातवीं–आठवीं शती से ही प्रदर्शित किया जाने लगा था।

लगभग नवीं शती की एक द्विभुज अंबिका मूर्ति पुरातात्विक संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक–००डी–६) में सुरक्षित है। इस विशिष्ट मूर्ति की दुर्लभ विशेषता अंबिका के साथ गणेश, कुबेर, बलराम, कृष्ण वासुदेव एवं अष्टमातृकाओं का निरूपण है। ललितमुद्रा मे पद्मासन पर विराजमान यक्षी का सिंहवाहन आसन के नीचे उत्कीर्ण है। यक्षी की कुछ खण्डित दाहिनी भुजा मे आम्रलुंबि के स्थान पर अभयमुद्रा प्रदर्शित है, और बायीं से वह गोद में स्थित बालक को सहारा दे रही है। देवी के दाहिने पार्श्व में दूसरा पुत्र भी उपस्थित है। पार्श्ववर्ती चामरधरों से सेवित अम्बिका मूर्ति की पीठिका पर एक पंक्ति में आठ स्त्री आकृतियां (अष्टमातृकाएं) उत्कीर्ण हैं। अंबिका के शीर्ष भाग में एक लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है, जिसके दोनों पार्श्वों में बलराम एवं कृष्ण की चतुर्भुज स्थानक मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। अंबिका नेमिनाथ की यक्षी है, और कृष्ण एवं बलराम को जैन परम्परा में नेमिनाथ का चचेरा भाई बताया गया है। प्रस्तुत मूर्ति में कृष्ण–बलराम का अंकन इसी सम्बन्ध का परिचायक है। तीन सर्पफणों से शोभित बलराम की तीन भुजाओं से पात्र हाला पात्र मुसल एवं हल प्रदर्शित है, जबकि चौथी भुजा जानु पर आराम कर रही है। वनमाला से शोभित कृष्ण अभयमुद्रा, गदा, चक्र एवं शंख से युक्त है। अम्बिका के दाहिने और बायें पार्श्वों में क्रमशः गजमुख गणेश एवं कुबेर की द्विभुज आकृतियां उत्कीर्ण हैं। गणेश एवं कुबेर के चित्रण अम्बिका के सुख–समृद्धि की देवी होने का संकेत देते हैं। गणेश की भुजाओं में अभयमुद्रा एवं मोदक पात्र प्रदर्शित है। कुबेर ने फल एवं पर्स धारण किया है।

प्रारम्भिक दसवीं शती की दो द्विभुज अम्बिका मूर्तियां मध्यप्रदेश के विदिशा जिले मे स्थित ग्यारसपुर के मालादेवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण है। शीर्षभाग में आम्रफल के गुच्छकों से शोभित सिंहवाहना अम्बिका आम्रलुंबि एवं पुत्र से युक्त हैं। मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले मे स्थित खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (९५४ ई०) की दक्षिणी भित्ति पर भी त्रिभंग में खड़ी अम्बिका की एक द्विभुज मूर्ति निरूपित हैं। देवी ने आम्रलुंबि एवं बालक धारण किया है और उसका वाहन अनुपस्थित है। आम्रफल के गुच्छकों से सुशोभित अम्बिका का दूसरा पुत्र दाहिने पार्श्व में स्थित है। इस अकेली मूर्ति को छोड़कर दसवी से बारहवीं शती के मध्य की खजुराहो की अन्य सभी मूर्तियों में अम्बिका चतुर्भुजा है।

खजुराहो के विपरीत देवगढ़ की नवी से बारहवीं शती की लगभग ५० मूर्तियों में अम्बिका द्विभुजा है। उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में देवगढ़ से ही अम्बिका की सर्वाधिक स्वतंत्र मूर्तियां प्राप्त होती हैं। देवगढ़ से चतुर्भुजा अम्बिका की केवल दो ही मूर्तियां प्राप्त होती हैं।

देवगढ़ की द्विभुज मूर्तियों में अन्य क्षेत्रों के समान ही सिंहवाहना अम्बिका को आम्रवृक्ष के नीचे अवस्थित और आम्रलुंबि एवं बालक से युक्त प्रदर्शित किया गया है। देवगढ़ की चतुर्भुज मूर्तियों में यक्षी के करों में आम्रलुंबि, अंकुश, पाश और बालक स्थित है। चतुर्भुज मूर्तियों के उदाहरण मन्दिर : ११ के समक्ष के मानस्तम्भ (१०५६ ई०) एवं मन्दिर : १९ के स्तंभ (१२ वीं शती) पर उत्कीर्ण हैं। जैन परम्परा के विपरीत मूर्त अभिव्यक्ति में दिगम्बर स्थलों पर यद्यपि चतुर्भुजा अम्बिका का निरूपण विशेष लोकप्रिय रहा है, पर उनकी भुजाओं में श्वेतांबर ग्रंथों में वर्णित आयुधों को ही प्रदर्शित किया गया है। स्मरणीय है कि श्वेतांबर ग्रंथों में चतुर्भुजा यक्षी के करों में आम्रलुंबि, पाश, पुत्र एवं अंकुश के प्रदर्शन का विधान है। देवगढ़ की उपर्युक्त चतुर्भुज मूर्तियों के अतिरिक्त खजुराहो एवं राजकीय संग्रहालय, लखनऊ की कुछ अन्य दिगम्बर परम्परा की चतुर्भुज मूर्तियों में भी लक्षणों के प्रदर्शन के सन्दर्भ में श्वेतांबर प्रभाव देखा जा सकता है। खजुराहो के मन्दिर : २७ की ग्यारहवीं शती की स्थानक मूर्ति में सिंहवाहना यक्षी के शीर्षभाग में आम्रफल के गुच्छक एवं लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है। चतुर्भुज यक्षी के करों में आम्रलुंबि, अंकुश, पाश एवं पुत्र स्थित हैं। समान विवरणों वाली राजकीय संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक : ६६. ५२४) की मूर्ति में अम्बिका की एक भुजा में अंकुश के स्थान पर त्रिशूल-घण्ट प्रदर्शित है। दोनों ही मूर्तियों में देवी के समीप उसका दूसरा पुत्र भी आमूर्तित है।

राजकीय संग्रहालय, लखनऊ (जी-३१२) की ग्यारहवीं शती की एक अन्य चतुर्भुज मूर्ति में अम्बिका की निचली भुजाओं में आम्रलुंबि एवं पुत्र, और ऊपरी में पद्म में लिपटी पुस्तिका एवं दर्पण प्रदर्शित है। जैन परम्परा के विपरीत पद्म और दर्पण का प्रदर्शन यक्षी के निरूपण में हिन्दू देवी अम्बिका (या पार्वती) का प्रभाव दर्शाता है। खजुराहो की अधिकांश चतुर्भुजा अम्बिका मूर्तियों में सिंहवाहना देवी की निचली दो भुजाओं में आम्रलुंबि एवं बालक, और ऊपरी भुजाओं में पद्म या पद्म में लिपटी पुस्तिका प्रदर्शित हैं। दूसरा पुत्र भी समीप ही निरूपित है। पुरातात्विक संग्रहालय, खजुराहो (क्रमांक : १६०८) की ग्यारहवीं शती की एक विशिष्ट मूर्ति में चतुर्भुज अम्बिका के साथ जिन मूर्तियों के समान ही पीठिका छोरों पर द्विभुज यक्ष-यक्षी युगल भी आमूर्तित है। देवी के शीर्षभाग में पद्म

धारण करने वाली कुछ द्विभुज देवियां निरूपित हैं। अम्बिका के साथ इन सहायक देवों का निरूपण खजुराहो में उसकी विशेष प्रतिष्ठा का सूचक है।

बिहार, बंगाल और उड़ीसा में अम्बिका की केवल द्विभुज मूर्तियां ही प्राप्त होती हैं, जिनमें सिंहवाहना अम्बिका सदैव आम्रलुंबि एवं बालक धारण करती हैं। शीर्षभाग में आम्रफल के गुच्छकों से शोभित यक्षी के साथ कुछ उदाहरणों में दूसरे पुत्र को भी प्रदर्शित किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली (क्रमांक ६३ ६४०), पार्श्वसिंगदा, अलुआरा, पववीरा, अम्बिका नगर और खण्डगिरि की नवमुनि एवं बारभुजी गुफाओं से प्राप्त होते हैं।

उत्तर भारत के समान ही दक्षिण भारत में भी द्विभुज अम्बिका का चित्रण विशेष लोकप्रिय रहा है। अम्बिका के साथ पुत्रों एवं सिंहवाहन के प्रदर्शन में नियमितता प्राप्त होती है। दोनों पुत्रों को गोद के स्थान पर सामान्यतः वाम पार्श्व में आमूर्तित किया गया है। भुजा में आम्रलुंबि का प्रदर्शन नियमित नहीं रहा है। मूर्त अंकनों एवं अभिलेख के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अम्बिका दक्षिण भारत की तीन सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों (अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी) में एक रही है। दक्षिण भारत में अम्बिका की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति अयहोल (कर्नाटक) के मेगुटी मन्दिर (६३४-३५ ई०) से प्राप्त होती है। ललितमुद्रा में विराजमान यक्षी की दोनों भुजाएं सम्प्रति खण्डित हैं। एलोरा (महाराष्ट्र) की जैन गुफाओं में भी अम्बिका की कई मूर्तियां (१० वीं-११ वीं शती) उत्कीर्ण हैं। इनमें आम्रवृक्ष के नीचे आसीन अम्बिका की भुजाओं में आम्रलुंबि एवं पुत्र प्रदर्शित हैं। दूसरा पुत्र सिंहवाहन के समीप ही निरूपित है।

×❀×

मसाढ़ (आरा) में अम्बिका देवी का मन्दिर

– सुबोध कुमार जैन

कई वर्षों के उपरान्त आरा के पश्चिम-दक्षिण कोण पर स्थित, ६ मील दूर, प्राचीन स्थल मसाढ जाने का सुयोग फिर मिला। मसाढ, जिसे चीनी यात्री हुवेन साँग ने अपने इतिहास प्रसिद्ध विवरण मे मोहोसोलो के नाम से लिखा है।

हुवेन-साँग ई० ६३० मे भारत की यात्रा पर आया था। उसने अपनी यात्रा का विवरण जो लिखा है उससे तत्कालीन भारत के विषय मे महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था पर उसकी यात्रा-कथा अन्य मतो और धर्मों की दृष्टि से भी उपयोगी रही है। मसाढ के विषय मे उसने लिखा है कि 'यह स्थान अपने समय मे प्रसिद्ध था और व्यापार का केन्द्र था। जैनियो की अच्छी बडी बस्ती यहाँ थी। तालाब के किनारे तीर्थंकर पार्श्व प्रभु का विशाल मन्दिर था जिसमे आठ जिन प्रतिमाएँ थी। एक प्रतिमा को छोडकर बाकी सातों प्रतिमाओं पर लेख लिखे थे।'

वह प्राचीन मन्दिर आज भी खडा है, परन्तु हुवेन-साँग द्वारा उल्लेखित ८ प्रतिमाओं में एक भी प्रतिमा आज उस मन्दिर मे नहीं है। प्राचीन प्रतिमा एक ही उसके बहुत उपरान्त वि० सं० १३८६ की मन्दिर जी में है। बाकी प्रतिमाएँ बाद की हैं।

ज्ञातव्य है कि १४ वीं शताब्दी मे मारवाड के कुछ राठौर जैन परिवार मसाढ में आकर बसे थे और यह प्रतिमा उन्हीं के समय की होनी चाहिए।

दुष्काल के प्रभाव मे यहाँ की प्राचीन प्रतिमाओ को खण्डित या अखण्डित बगल के तालाब के तल मे या और कहीं असामाजिक तत्वो ने फेंक दिया। कुछ खण्डित और अखण्डित प्रतिमाएँ तालाब मे जब मिली तब भी वे जहाँ की तहाँ हो गई। पार्श्वनाथ मन्दिर जी में विराजमान नहीं हो पायी। इसका कारण यह रहा कि मसाढ मे जैन बस्ती बिल्कुल उठ गई थी। इस मन्दिर के पुजारी जो भी रहे उन्होंने मिली हुई प्रतिमाओ को मन्दिर जी मे लाने का प्रयास भी किया या नहीं ज्ञात नहीं।

पार्श्व प्रभु मन्दिर के कुछ ही कदम पर हिन्दुओ द्वारा पूजित अम्बिका देवी जी' का एक मन्दिर है। मुझे इस यात्रा के दौरान मन्दिर जी के प्रबन्धक और मुन्नलाल ट्रस्ट के ट्रस्टी-श्री सन्तोष कुमार एडवोकेट वहाँ ले गए। मन्दिर जी के अन्दर उन्होंने मुझे सिन्दूर मे लिपी-पोती प्रतिमा दिखलाते हुये बताया कि यह मूर्ति पार्श्वप्रभु मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी अम्बिका की मूर्ति है। स्पष्ट चिह्नों को देखने से मैं उनके विचार से सहमत हुआ।

परन्तु मैने उनसे कहा कि किसी प्रकार प्रयत्न करके सिन्दूर की मोटी तह को साफ कराना चाहिए तभी निश्चय पूर्वक मान्यता मिल सकेगी।

इन्हीं देवी जी के मन्दिर के अहाते की दीवालों पर कई पुरानी मूर्त्तियाँ चुनी हुई हैं। इनमें एक पार्श्वप्रभु की खण्डित मूर्ति छठी ७ वीं शताब्दी की मालूम पड़ती है। कई शासन देव और देवियों की खण्डित और अखण्डित अत्यन्त मनोहारिणी मूर्त्तियाँ हैं। अम्बिका देवी की १½ फुट ऊँची मूर्त्ति वो स्पष्ट रूप से मौर्यकालीन मालूम पड़ती है। देवी के मस्तक पर पार्श्वप्रभु की मूर्ति बनी है।

कामदेव और रति की एक २ फुट ऊँची मूर्ति कला की दृष्टि से अनुपम है। यह भी छठी शताब्दी की है।

प्राचीन खण्डित खम्भे भी है जो कि कलापूर्ण और द्रष्टव्य हैं।

मुनलाल ट्रस्ट के द्वारा आजकल पार्श्वप्रभु के मन्दिर के पूजन और जीर्णोद्धार आदि में विशेष ध्यान दिया जा रहा है। १०-१५ हजार रुपये लगाकर मन्दिर के परकोटों को ऊँचा और मजबूत बनाकर तालाब की ओर एक लोहे का दरवाजा, बड़ा और ऊँचा लगवाया गया है। मन्दिर की धर्मशाला में कई कमरे हैं और बिजली बत्ती भी आ गई है। चापाकल लग गया है। एक ब्राह्मण पुजारी मन्दिर जी की धर्मशाला में बराबर रहता है और पूजा व्यवस्था आदि करता है। गाँववालों को बाहर की ओर बाईं ओर तीन कमरे धर्मशाला के रूप में दिये जाते हैं। एक कमरे में शिवलिङ्ग स्थापित है।

मैंने सुझाव दिया कि इस क्षेत्र की उन्नति के हित मे एक वार्षिक मेला लगाना चाहिए। प्रबन्धक महोदय ने इस सुझाव को स्वीकार किया। मून लाल ट्रस्ट के १०० वर्ष इसी सन् १९७८ हो रहे हैं और इसी शती के उपलक्ष में उत्सव मनाने की उन्होंने घोषणा की, बाद मे हर वर्ष पार्श्वप्रभु के निर्वाण या जन्मोत्सव के उपलक्ष में मेला लगाने का भी भरोसा दिया।

वि० सं० १८१९ मे आरा निवासी बाबू शंकर लाल ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था एवं बिंब प्रतिष्ठा भी कराई थी।

आरा नगर में मसाढ़ स्थित पार्श्व प्रभु मन्दिर जितना पुराना कोई भी दूसरा मन्दिर नही है। शाहाबाद जिले में जैनियों के दो ही स्थल प्राचीन पाए जाते हैं—

एक तो मसाढ़ और दूसरा बक्सर के पास–चौसा। दोनों ही स्थलों के इतिहास वहाँ से मिली प्राचीन मूर्तियों के कारण स्पष्ट हो चुके हैं। पटना म्यूजियम में दोनों ही स्थानों से पाई गई दिगम्बर जैन प्राचीन मूर्तियाँ रखी हुई है। भगवान महावीर का चिन्ह सिंह था।

एक मौर्यकालीन सिंह मस्तक मसाढ से म्युजियम में भेजा गया है जो कि विशेष रूप से देखने लायक है।

ऐसी मान्यता चली आ रही है कि जिस समय पार्श्वप्रभु अपने जन्मस्थान वाराणसी से सम्मेद शिखर के लिये चले, रास्ते में उनका समवशरण मसाढ में भी लगा था। ऐसा सम्भव हो सकता है, क्योंकि बनारस से सम्मेद शिखर के रास्ते पर यह स्थान पड़ता है। यहां के तत्कालीन श्रावकों की प्रेरणा से समवसरण का यहां होना बिलकुल अविश्वास वाली बात नही कही जा सकती।

पार्श्वप्रभु के मन्दिर जी का जीर्णोद्धार हो रहा है, अब अम्बिका देवी के मन्दिर का उद्धार भी होना ही चाहिए, और वहां की प्राचीन खण्डित मूर्तियों की रक्षा होनी चाहिए। तालाब के तल में सम्भावना है कि और भी प्राचीन मूर्तियाँ पड़ी हों, उनकी खोज होनी चाहिए।

X ००० X

अंजना सुन्दरी रास का रचनाकाल

लेखक: – श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन सिद्धान्त भास्कर के जुलाई ७७ के अंक में प्रो० गदाधर सिंह का एक लेख 'अंजना सुन्दरी रास' सम्बन्धी छपा है जिसकी प्रति जैन सिद्धांत भवन में है और उसके रचयिता महाणंद कवि है। इस रास का रचनाकाल प्रो० गदाधर सिंह जी ने संवत् १६११ लिखा है पर नीचे जो उद्धरण दिया गया है उससे इसकी पुष्टि नहीं होती। कुछ तो पाठ ही अशुद्ध है। पर संवत् १६११ तो किसी भी तरह से रास का रचनाकाल हो ही नहीं सकता। पाठ है;–" चन्द्रकाल रजोसगमना संवछर जाणरे।

इस रास की प्रशस्ति की मेरे पास जो नकल है उसमें 'गमना' की जगह 'गगना' पाठ है। सो संभव है 'गमना' छपने या नकल करने की गल्ती हो। पर इस प्रशस्ति मे हीर विजय सूरि द्वारा अकबर को प्रतिबोध देने और उनके पट्टधर विजयसेन सूरि द्वारा अकबर सभा में भट्ट से वाद जीतने का उल्लेख है। और इसके बाद विजयसेन सूरि के पट्टधर विजय देव सूरि का भी उल्लेख है। तपागच्छ पट्टावलि के अनुसार विजय सेन सूरि का स्वर्गवास संवत् १६७१ (गुजरात) और मारवाड़ी १६७२ ज्येष्ट बदी ११ खभात में हुआ था। और विजयसेन सूरि को भट्टारक पद इसके बाद ही मिला था। अतः अंजना सुन्दरी रास का रचनाकाल १६७२ संवत् से पहले का हो ही नहीं सकता।

प्रो० गदाधर सिंह रासकी प्रशस्ति का भाव ठीक से समझ नहीं पाये हैं। इसलिए कई गल्तियां कर बैठे हैं और जो पाठ उद्धृत किया है उसमें भी कहीं कहीं पाठ अशुद्ध है। इसलिए हमारे पास जो इस प्रशस्ति की नकल, जो पहले की हुयी है उसे यहां प्रकाशित किया जा रहा है। इससे पाठक, पाठ को ठीक न समझने के कारण उन्होंने क्या–क्या गलतियां की हैं? यह स्वयं जान सकेगे। विजय सेन को उन्होंने 'गणि' लिख दिया है पर वे गणधार अर्थात् आचार्य थे। 'उनके पट्टधर 'गुणमणि सागर' थे, लिखा हैं; पर वास्तव में 'गुणमणि सागर' विजय देव सूरि का विशेषण हैं। अतः पट्टधर विजय देव सूरि हो थे। हर्षानन्द के बाद 'पंडित गुण सूरि' नाम दिया है, वह भी भ्रामक है, हर्षानन्द का विशेषण है 'गुण भूरि' प्रशस्ति विवेक में इसके बाद पंडित परमानन्द का उल्लेख है, उसे उन्होंने छोड़ दिया है। भुज की जगह भुजनगिरि नाम अशुद्ध दिया है। कुछ अन्य ऐतिहासिक तथ्यों को तो वे समझ ही नहीं पाये। भद्रेश्वर तीर्थको मंडेश्वर लिख दिया है।

(महा णांक . तथा विद्या हर्ष शि०)

अंजना सुन्दरी रास स० १६६० रायपुर

आदि- महोपाध्याय श्री विवेक हर्ष गणि गुरुभ्यो नमः ।

आदि जिनवर आदि जिनवर प्रथम प्रणमेवि

समकं सरसती भगवती हंस गमिणी रिपु सेन दमती

सरस वचन रस वरसती बसो मुझ मुखकमल रमती

तूं प्रसन्न थई पूरवे मुझ मन केरी आस

सती शिरोमणि अंजना, करेसुं तेहनो रास ॥१॥

अंत— राग धन्यासी

विस्तरिया गुण अनोपम जग मांहि जेहना रे, जग गुरु तपगच्छ नाहरे ।

हीर विजय सूरि राजिसुरे, जिण प्रतिबोध्युछि अकबर साहि रे । वि० ।६।

करी रे अमारि छम्मास नी रे, जिणि मेहलाव्या कर सेत्रुंज गिरनारि रे ।

पूज्य पनोता पाटोधर जेहनारे, श्री विजय सेन गणधार रे । वि० ।१०।

जिणि शाहि अकबर नी समां मांहि भट्ट सुं रे, कीधो कीधो वाद उमंग रे ।

मिथ्यामत रखडी करी रे जिण राख्यूं र जिन शासनि रंग रे । वि० ।११।

गाय वृषभ महिषादिक जीवनी रे कीधा कीधा नित्य अमारि रे ।

बंदिन झालइ को गुरु वयण थी रे, द्रव्य अपुत्र नुं दारि रे । वि० ।१२।

तासु पटोधर गुण मणि सागरु रे तास आचार्य विजय देव सूरि रे ।

तस गच्छ मंडण पंडित शिरोमणी रे, हरषानंद पंडित गुण भूरि रे । वि० ।१३।

तस पदवी उदयाचल सिणगार बारे, ऊग्या ऊग्या बधन जोडिरे ।

विवेकहर्ष पंडित दिन करु रे, परमाणंद पंडित गुण कोडिरे । वि० । १४।

ते तप गच्छपति नो आदेश लही करी रे, कीधुं कीधुं प्रथम विहार रे ।

काछ मंडल प्रतिबोधिउ रे तिहां थया थया सुर सानिधकार रे । वि० ।१५।

जिणराजा श्री भारमल जी प्रतिबोधिउ रे तिण कीधी कीधी जीव अमारि रे ।

अष्टावधान देखाडिआ रे तिणि रीझ्या र राय अपार रे ।

[तिण जाण्या जाण्या पंडित सिरदार रे] वि० ॥१६॥

राय श्री भारमलजी नी परषदारे, जिणि कीधुं कीधुं कुमति सुंवाद रे ।

भाद्रवि पजूसण थाविआरे, तिणि पाम्युं पाम्युं जगत्रि यशवाद रे ।

तिणि मोड्या मोड्या कुमति ना नाद रे । वि० ॥१७॥

सुणी रे उपदेस सुहामणो जी ,राय भारमल्ल आ हरष अपार रे।
श्री भुजनगर मडांविआ जी, प्रासाद श्री राय विहार रे। वि० ॥१८॥
सुखर सानिध्यइ नीपनारे, श्री विजय चिंतामणि पास रे।
राय श्री नामइ ं जे थापिआरे, तिहा पहुती पहुँती तपगछनी आसरे।
तिण कीधा सहु कुमति निरास रे। वि० ॥१६॥
वली जस उपदेस सुधार सिरे, लीध्यु लीध्यु साहु जीवराज रे।
रायपुर नरगरि प्रासाद सु जी, मंडाव्या श्री शीतल जिनराज
तिहां करावी प्रतिष्ठा नु ं काज रे। वि० ॥२०॥
साखरि खेत्र ते सबलु ं थयु जी, श्री गुरुचरण प्रसादि रे।
काछी ओसवाल साह वयरसी रे, तिणि उत्तु ंग तोरण प्रासाद रे।
वली करणी प्रतिष्ठा जसवादरे। वि० ॥२१॥
तिहां ऋषभादिक नीकरी थापनारे तिहा कीधो उपाश्रय सुविशाल रे
वलीवीर सुपास नी थापना रे लायजागामि सचोसा ओसवाल रे
ते तो करावइ प्रतिष्ठा विशाल रे। वि०॥२२॥
भद्रेस्वर पुर तणा विहार सोहामणारे तिहा कीधा कीधा तीरथ उद्धार रे
राय भारमलना स्वइ ं तिहा भावियाजी तिहां पइसारइ मिल्या अपार रे।
तिहां कीधा कीधा उत्सव अपार रे। वि० ॥२३॥
तास चरण सुप्रसादि विद्याहरष सु ंरे, पामी पामी रच्यो बेकर जोडि रे।
रायपुर नगरि अंजनासती तणो रे रास आपइ आपइ मंगल कोडि रे ॥२४॥
चंद्रकला रजो सीगगना संवछर जाण रे, श्री हनुमंत जननी रास रे
रगि रे रगि रे गगि महु णंद इम वीनव इरे, सुणतां सुणतां पहुंचइ मन
नी आसइ। वि० ॥२५॥

इति श्री अंजना सुन्दरी रास समाप्तः

१ प्रति १ पत्र २३ पं० १४ अक्षर ४८ जैन सिद्धान्त भवन आरा। २ प्रति पत्र १६ पं० १५ अ० ४०-५५ मोती चंद खजानची संग्रह सं० १७०३ वै० व १ विद्या विजय शि० विनय विजय जी।

***

जैन इतिहास का अरुचिकर पृष्ठ

लेखक—श्री कस्तूरमल बांठिया

जिस प्रकार मानव-जीवन रुचिकर और अरुचिकर दोनों ही प्रकार की घटनाओं का एक संलग्न इतिहास है; उसी प्रकार देश और धर्म का जीवन भी दोनों ही प्रकार की घटनाओं से भरा-पूरा होता है। परन्तु अरुचिकर घटनाओं की ओर दृष्टिपात करते जैसे हरेक मानव घबराता और कतराता है, वैसे ही धर्म और देश भी घबराते और कतराते हैं। पर कभी कभी इन अरुचिकर घटनाओं की ओर देखना ही नहीं; अपितु उनकी तह तक पहुंचना भी आवश्यक होता है और खास कर उस समय जब कि धर्म-जीवन को सभी ओर से खतरे से घिरा हुआ हम पाते हैं। आज सब धर्मों के साथ ही हमारे जैन धर्म का जीवन भी खतरे में फँसा हुआ है। परम प्राणदायी अनेकान्त को त्याग कर इसने व्यावहारिक जीवन में परिपूर्ण एकान्त को अपना लिया है। इसका कर्म-सिद्धान्त, विशेषतः संचित कर्म-सिद्धान्त आज परीक्षा की कसौटी पर चढ़ चुका है, यही नहीं, अपितु उसके परिणाम ऊंच नीचः गरीब-अमीर, आदि के भेदभाव को जड़ से ही निर्मूल करने का प्रयत्न हो रहा है। अतः यह हितकर है कि हम अपने इतिहास के अरुचिकर पृष्ठों को इस दृष्टि से देखें कि हमारे भावी मार्ग को हम परिष्कृत कर सकें और जीवन को उन खतरों से बचा सकें जिनसे वह बुरी तरह से घिरा हुआ है।

वैदिक और वेद-विरोधी धर्म

आज तो भारतवर्ष में वेद-विरोधी भारतीय और अभारतीय धर्म अनेक हैं और अभारतीय धर्मों में कुछ वैदिकधर्म-जितने ही प्राचीन भी हैं चाहे उनका भारतवर्ष में जमाव वैदिक आर्यों के आगमन के बहुत ही बाद क्यों न हुआ हो। ऐसे प्राचीनतम अभारतीय धर्म हैं जरथोस्त्र धर्म और यहूदी धर्म। पक्षान्तर में भारतीय धर्म हैं जैन, बौद्ध, आजीवक और सांख्य। फिर भारतवर्ष में वैदिक-सत्ता जम जाने पर भी वेद-विरोधी धर्म जैसे कि शैव, वैष्णव आदि आदि प्रकट होते रहे हैं। परन्तु सिवा बौद्ध और जैन के वैदिकधर्म ने प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय धर्मों को अपने में बिलकुल घुला-मिला लिया और जिन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता रखी उन्हें अपनी ही विशिष्ट शाखा के रूप में मान लिया है। अवैदिक आजीवक धर्म का प्रवाह तो सातवीं सदी के आसपास से एक दम ही विलुप्त हो गया और आज यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि वह सांख्य की तरह वैदिकधर्म में घुलमिल गया है या सर्वथा ही विलुप्त हो गया है। इसका परिचय ही जैन और बौद्ध ग्रंथों से संसार को

हुआ। इसका न तो कोई साहित्य ही कहीं अब तक उपलब्ध हुआ है और न कोई विशेष स्मारक ही इसके मिले हैं। इसलिए यह भी कुछ नहीं कहा जा सकता है कि इस आजीवक धर्म ने भारतीय जनता को कभी कितना प्रभावित किया था? दूसरा बौद्धधर्म भी आज देश में नहीं है! परन्तु उसके अस्तित्व और जाहोजलाली का परिचय हमें उसके सर्वत्र बिखरे महान् स्मारकों से पूरा पूरा मिलता है। किंवदन्ती है कि इस धर्म की अन्त्येष्टि भी देश में ८ वीं सदी में होनेवाले शंकराचार्य ने कर दी थी। हालांकि इतिहास से यह अप्रमाणित ही है। देश में उसकी अन्त्येष्टि चाहे जब हुई हो, फिर भी चीन, बर्मा, तिब्बत, सिंहलद्वीप, जापान, कम्बोडिया आदि पूर्वी देशों में न केवल वह जीवित ही है, अपितु इसके अनुयायियों की संख्या भी संसार में ईसाइयों और मुसलमानों जितनी ही कही जा सकती है। भारतवर्ष में इसके पुनरुज्जीवन का प्रयत्न इस बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भिक्खू अनागारिक धम्मपाल ने महाबोधी सोसाइटी की स्थापना कर अवश्य ही किया था; परन्तु उसको प्रगति तो स्व० डा० आम्बेडकरजी ने ही दी जब वे हिन्दूधर्म की अस्पृश्यता से चिढ़ कर, बुद्धनिर्माण की ढ़ाई हजारवीं जयन्ती पर, स्वयम् बौद्ध हो गए थे और अपने साथ अनेक हरिजनों को भी बौद्धधर्म की दीक्षा दिलवा दी थी। आज के धर्म-निरपेक्ष भारत में यह बौद्धधर्म देश का फिर से जीवित जनधर्म बनने में कितना सफल होगा, यह तो समय ही बताएगा। सच तो यह है कि भौतिकता की चकाचौंध और विद्युत् सी वेगवती बाढ़ ने धर्म नाम के पदार्थ को ही सारे संसार में भारी खतरे में डाल दिया है और जन—साधारण की नहीं तो, कम से कम आधुनिक शिक्षितों की तो उसके प्रति श्रद्धा उठती ही जा रही है।

अंग, बंग, कलिंग मगध आदि पूर्वी देशों में इतिहासातीत युगों से फलता-फूलता रहनेवाला जैनधर्म वहां तो आज मूर्तियों और मन्दिरों के ध्वंसावशेषों में ही देखा जाता है अथवा व्यापार-वाणिज्य के लिए प्रवासी हुए अन्य-प्रदेशीय लोगों में। वहां के आदिम निवासियों में तो केवल सराक जाति ही इसका संकेत देती और स्मरण कराती है। सुदूर दक्षिण में अवश्य ही वहां के मूल निवासी आज भी अच्छी संख्या में जैनधर्मी हैं। वहां के लिंगायतों के अत्याचारों के होते रहने पर भी जैनधर्म का अस्तित्व वहां है, यह आश्चर्य ही है। अनेक परिवर्तनशील समान परिस्थितियों में से गुजरते हुए और वेदों को बराबर ही अमान्य करते हुए सब प्राचीन भारतीय वेद-विरोधी धर्मों में से एक जैनधर्म ही इस देश में आज स्वतंत्र रूप में जीवित है; हालांकि उसका यह जीवन भी ठीक वैसा ही कहा जा सकता है कि जैसा अभारतीय जरथोस्तृ और यहूदीधर्मों का जीवन इस संसार में आज है।

पर इन दोनों अभारतीय धर्मों का इतिहास कुछ निराला भी है। इन्होंने कभी कहीं अपना प्रचार नहीं किया और न आज भी वे करते हैं। धर्म-परिवर्तन द्वारा भी इन्होंने अपने

अनुयायी बढ़ाने का प्रयत्न कभी नहीं किया। इतिहास मा ऐसा कोई उनका उदाहरण अपवाद रूप में भी प्रस्तुत नहीं करता है। इन दोनों धर्मों को अपने जीवन का खतरा ही बराबर रहा और इस दशा में वे धर्म-प्रचार और प्रसार का सोच ही नहीं सकते थे। यहूदियों पर यूरोप में किए गए अत्याचारों से कौन अजान है जहां कि ये थोडी थोडी संख्या में बसे हुए हैं और उन सभी देशों के मदियों से निवासी होते हुए भी [illegible] ये सामान्यतया बेगाने ही माने जाते रहे हैं। यह आश्चर्य की ही बात है कि इनका विरोधी आन्दोलन आज फिर से सिर उठा रहा है जैसा कि कुछ दिन पूर्व इंगलैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों मे यत्तत्र लगे देखे गए मोटे मोटे विज्ञापनों से जाना जा सकता है।

जरथोस्तृ धर्मानुयायी पारसी तो भारतवर्ष मे ही हैं। जो थोड़े से पारसी वाणिज्य के लिए विदेशों में जाकर बस गए हैं, वे अपने को भारतीय ही कहते-मानते हैं। ईरान के निवासी वे कभी थे, यह सिर्फ इतिहास की ही घटना है। यहूदियों की भाँति इन्होंने ईरान को फिर से अपना देश बनाने की इच्छा ही नहीं की और न करते हैं।

इन दोनों ही धर्मों के विषय में मार्के की बात तो यह है कि ये अपने धर्म में इतने अधिक दृढ़ रहे और हैं कि जैसे विरल ही कहीं और कोई हैं। वे धर्म के वाद-विवाद मे भी कभी नहीं उलझते और न अपने धर्म के बाहर विवाह ही करते-कराते हैं। यदि भूल-भटक कर कोई धर्म के बाहर विवाह कर भी लेता है तो उसे वे पराया नहीं समझते और वह भी मैं अपने मूलधर्म के बड़े दिन पर तो सम्मिलित होकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय देता ही है। कन्याओं का तो धर्म के बाहर विवाह करना इन्हें कभी भी सहन नहीं हुआ न होता है। संघर्ष से पराङ्मुख हुए ये दोनों ही धर्म यदि जीवित हैं तो यह कोई भी आश्चर्य नहीं है।

पक्षान्तर में जैनों और बौद्धों, दोनों का ही इतिहास बिलकुल ही दूसरा रहा है। न केवल परस्पर धर्म-परिवर्तन कर इन्होंने अपनी संख्या में वृद्धि कभी भी की है; अपितु दोनों ने समान प्रतिस्पर्द्धी वैदिक-धर्म की अनुयायी संख्या में भी इसी प्रकार कमी-वेशी की है। वैदिक ब्राह्मणों ने इन धर्मों को स्वीकार कर न केवल इनकी जनसंख्या ही बढ़ाई है, अपितु इनके दार्शनिक एवम् विभिन्न साहित्य की शाखाओं की चामत्कारिक वृद्धि भी की है और अपने स्वीकृत नवीन धर्म का नाम साहित्याकाश में सदा सर्वदा के लिए अमर भी कर दिया है। वैदिकों से वादों में जीते भी हैं तो कभी हारे भी। परंतु फिर भी वाद की चुनौतियां ये देते और लेते ही रहे हैं। विरोधी धर्मानुयायियों की कन्याओं से इनके गृहस्थों ने विवाह किए हैं और उन्हें अपनी कन्याएं देते भी ये रहे हैं। विच्छिन्नता की नीति का मूल कर भी कभी इन्होंने पालन नहीं किया। जब कन्यायें जैसे अजैन पतियों को जैन बनाने में सफल हुईं

वैसे ही अजैन कन्याएँ अपने जैन पतियों को अजैन बनाने में भी सफल हुई है। अन्तर रहा है तो इतना ही कि जैन कन्याओं ने अपने धर्म मे परिवर्तित पतियों द्वारा विरोधी धर्मियों पर कभी कोई अत्याचार नहीं कराया जब कि अजैन कन्याओं के जैन से अजैन बने अपने पतियों द्वारा जैनों पर किए गए अत्याचारों से इतिहास के पृष्ठ स्पष्ट ही कलंकित हैं। नेदुमारन पांड्य द्वारा ८००० जैनों के शिरच्छेद-दिवस का उत्सव दक्षिण-मदुरा में हिन्दुओं द्वारा आज भी मनाया जाता है[१], यह एक उदाहरण ही देना पर्याप्त है। ऐसे अत्याचार बौद्धों पर भी हुए हैं। परंतु जहाँ बौद्धधर्म इस देश से सर्वथा ही बहिष्कृत हो गया, वहां जैनधर्म, चाहे उसके अनुयायियों की संख्या और प्रभाव आज नगण्य ही हो, जीवित है। इसका कारण यह भी कदाचित् है कि जैनधर्म की जड़ इस देश में वैदिक-आर्यों के आगमन से बहुत ही पूर्व की जड़ी हुई जब कि बौद्धधर्म तो ई० पूर्व छठी-पांचवी सदी में ही प्रस्फुटित हुआ और अशोक का आश्रय पा कर वह विदेशों में भी पैर जमाने लग गया था। पक्षान्तर मे जैनधर्म ने आर्य और अनार्य देश का विचार रखते हुए अनार्य देश में पैर फैलाने की इच्छा ही नहीं की और यहां ही जीवित रहने को बदलती परिस्थितियों के अनुकूल अपने धर्म के मूल सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखते हुए, अपने को भरसक बनाया।

वैदिक-आर्यों ने अन्ततः जैनों को मगध से अंग बंग कलिंगेषु की ओर भगा ही दिया।

पाश्चात्य भारतीय पुरातत्त्वज्ञों और इतिहासज्ञों का कहना है कि वैदिक आर्यों का भारतवर्ष में आगमन संभवतः ई० पूर्व २५०० के लगभग ईरान से हुआ या मध्य ऐशिया से परन्तु भारतीयों को ये दोनों ही मत मान्य नहीं हैं। खेद की बात तो यह है कि भारतीय पंडित अपने में भी इन दोनों ही विषयों में एकमत नहीं हैं। वैदिक-आर्य भारत में कब और कहाँ से आए थे, यह अभी विवादास्पद विषय ही बना हुआ है। पर एक बात मोहन जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खननों से भली प्रकार प्रमाणित जो हो गई है, वह यह है कि आर्यों के आगमनपूर्व के यहां के निवासी, जो भी वे हों, नागरिक सभ्यता और संस्कृति में आर्यों से उन्नत थे। उन आदिवासियों का धर्म क्या था, यह यद्यपि अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, फिर भी वहां से मिली जिनों के से कायोत्सर्ग-मुद्रा की ध्यान-स्थ खड़ी मनुष्याकृति दिखाती कुछ मुद्राएँ (सील्स) और शिव के आदर्श की ध्यानस्थ बैठी देव-पुरुष-जैसी एक मुद्रा जो कि बाद की जैन, बौद्ध और हिन्दू इसी आसन के

१ स्मिथ, 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया,' १६५८ संस्करण, पृ० २२७।

मूर्तिशिल्प से मिलती हैं[1] उस काल में जैनधर्म के अस्तित्व का अवश्य ही निश्चित संकेत देती हैं।[2] जैन वाङ्मय मनीषी प्रज्ञाचक्षु पं सुखलाल जी ने भी एक स्थल पर कहा है कि "भारत में सम्भवतः वैदिक सम्प्रदाय के प्रवेश होने के पहले से ही किसी न किसी रूप में और किसी न किसी प्रदेश में उसका विरोधी श्रमण सम्प्रदाय अवश्य ही मौजूद था और इस श्रमण सम्प्रदाय की शाखाएं और प्रतिशाखाएं अनेक थी।"[3] इसका समर्थन प्रसिद्ध प्राकृतज्ञ डा० आदिनाथ नेमनाथ उपाध्ये ने भी स्व-सम्पादित 'प्रवचनसार' की अंगरेजी प्रस्तावना[4] में किया है, यद्यपि इस वेद-विरोधी सम्प्रदाय को वे 'मागध-धर्म' नाम देते हैं।

वैदिक आर्यों का इतिहास लिखनेवाले डा० कीथ स्पष्ट ही कहते हैं कि ऋग्वेद में जिसकी 'कीकट' नाम से निंदा की गई है और यजुर्वेद में पुरुषमेध का वर्णन करते हुए जिन्हे 'चारण सम्प्रदायी (मिंस्ट्रल)' कहा गया है, वे मागधी ही थे और उनकी इस निंदा का कारण था 'उनका ब्राह्मणधर्म पूर्णतया स्वीकार नहीं करना'।[5] मागधों की यह निंदा ब्राह्मणो में अभी तक भी किसी न किसी प्रसंग में पाई जाती है। पुराण-स्मृतिकाल में तो तीर्थयात्रा के सिवा आर्यों का मगध-प्रवेश ही निषिद्ध था।[6] और अधिक समय तक वहां रहनेवाले आर्य के लिए प्रायश्चित का भी विधान कर दिया गया था। दोनो वर्ष पूर्व के जैन यात्रियों ने वहां के लोगों में प्रचलित लोकोक्ति इन शब्दों में कही है—

> कासी वासी काग मुऊई मुगति लहई।
> मगध मुओ नर खर हुई।।

---

१ मार्शल, 'मोहेन-जो दारो एंड दी इंडस वैली सिविलाइजेशन' भाग १, फलक १२ चित्र १३, १४, १६, १७' १८, १९, २२, और ५२।

२ डा० शाह, उमाकान्त, 'स्टडीज इन जैन आर्ट', संस्कृति संशोधक मंडल, वाराणसी, पृ० ३, डा० मुकुर्जी राधामुकुद, हिन्दू सिविलाइजेशन भाग १, पृ० ३१।

३ पं० सुखलालजी, निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय, पृ० १।

४ डा० उपाध्ये, आदिनाथ नेमनाथ; 'प्रवचनसार', परमश्रुत प्रभावक मंडल, १९३५ संस्क पृ० १२-३

५ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १

६ अंगवंगकलिंगेषु, सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति ।। स्मृति ।।

अर्थात् काशी में मरा हुआ कौआ भी मुक्त हो जाता है, परन्तु मगध में मरा हुआ मनुष्य तो गधे की योनि ही अगले जन्म में पाता है।[1] इसलिए यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि वहां श्रमणधर्मियों का प्रबल प्रभुत्व रहा होगा। चूंकि बौद्धधर्म की स्थापना बुद्ध से होना ही इतिहास-प्रमाणित है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि मध्य देश जिसका कि ई० पूर्व छठीं शती में मगध केन्द्र था, का प्राचीनधर्म जैन ही होना चाहिए और इन जैनों ने वैदिकधर्मी आर्यों का, जैसे वे पूर्व की ओर बढ़ते गए, सर्वत्र डट कर सामना किया था। इस जैनधर्म की परम्परा भगवान् महावीर से ढाईसौ वर्ष पूर्व होनेवाले पार्श्वनाथ, जो कि काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे, तक तो इतिहास प्रमाणित भी हो चुका है।

धर्म की शक्ति उसके अनुयायियों पर और विशेषतः उसके क्षत्रिय अनुयायियों पर निर्भर करती है; क्योंकि पर-राष्ट्र आक्रामकों से देश की रक्षा उस काल में ये क्षत्रिय ही करते थे। और क्षत्रियों में जैनधर्म की परम्परा भी प्राचीन थी जैसा कि जैन तीर्थंकरों के क्षत्रियकुलोत्पन्न होने की अनिवार्यता परम्परा से जाना जाता है। महावीर भगवान् के अनुयायियों में उस समय का महान् साम्राज्यवादी प्रबल प्रतापी राजा श्रेणिक बिंबसार प्रमुख था। उसके बाद उसका पुत्र और उसकाधिकारी कूणिक-अजातशत्रु एवम् उसका पुत्र उदयन भी परम जैन ही था। इसके बाद मगध का साम्राज्य नन्दों और मौर्यों को गया और ये भी, श्रेणिक-कुणिक जसे जैन नहीं तो भी, जैनधर्मी ही थे। नन्दों का जैन होना तो उनका कलिंग-जिन की प्रतिमा कलिंग-विजय में उठा कर पाटलिपुत्र में लाना ही प्रमाणित करता है कि जिसे महामेघवाहन महाराजा खारवेल बाद में पुष्यमित्र शुंग पर अभियान कर लौटा ले गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य राज्य त्यागने पर जैनसाधु हो गया था;[2] यह भी ही बताता है कि श्रेणिक के समय की जैन-परम्परा तब तक तो सजग ही चली आ रही थी। अशोक बौद्ध होने पर भी सर्वधर्म-सहिष्णु था जैसा कि इसके शिला-धर्मलेखों से प्रमाणित होता है। महावीर-कालीन दूसरा प्रतापी जैन राजा चेटक था जो सोलह जनपदों, नौ लिच्छिवयों और नौ मल्लिकों का सरदार था और जिसकी सात कन्याओं में से छह जहां ब्याही थी; वे भी राजा जैन ही थे। महावीर की माता त्रिशला तो इस चेटक राजा की बहन ही थी। इस प्रकार दक्षिण में अवन्ती और सुदूर पश्चिम में सिंधु-सौवीर तक महावीर का प्रभाव फैला हुआ था जहां कि क्रमशः चंडप्रद्योत और उदयन राजा राज करते थे। जैनसूत्रों में यह भी कहा गया है कि भगवान् महावीर से प्रबोध पा कर न केवल अनेक क्षत्रिय कुमारों ही ने तब जैनदीक्षा

१ पं० बेचरदास दोशी 'भगवान महावीरना धर्मकथाओ', पृ० १८४।

२ नाम साम्य से ही ऐसा कहा जाता है, उपलब्ध प्रमाण पर र कितनी ही बातों में विरोधी हैं।

ले ली थी, परन्तु उनमें आठ मुकुटधारी राजा भी थे।[1] यथा राजा तथा प्रजा की उक्ति के अनुसार जिसके अनुयायी अनेक मुकुटधारी राजा हों, उनकी प्रजा भी उसकी अनुयायी हो और वहाँ पर वैदिक-धर्मियों की कोई दाल नहीं गली हो तो आश्चर्य ही क्या ?

परन्तु एक ओर तो इस राज्याश्रय-परम्परा को ब्राह्मणधर्मी पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ को मार मगध-साम्राज्य का अपहरण कर समाप्त कर दिया और दूसरी ओर धर्मनायकत्व भी आपसी मतभेद के कारण शिथिलतर होता आया। जब हिन्दू-ब्राह्मण धर्म की यज्ञ-यागों द्वारा स्थापना करने के लिए पुष्यमित्र ने जैनों और बौद्धों, दोनों पर और विशेषतया उनके भिक्षुओं और विहारों पर अत्याचार कर उन्हें निर्बल करना अपना धर्म ही बना लिया तो मगध से जैनों और बौद्धों के पैर शिथिल नायकत्व के कारण ऐसे उखड़े कि फिर वे वहाँ जम ही नहीं पाए; क्योंकि राज्याश्रय उन्हें वहाँ फिर मिला ही नहीं। पुष्यमित्र के समकालीन ही कलिंग मे महामेघवाहन महाराजा खारवेल हुआ था जो कि जैनो का महान आश्रयदाता भी था। परन्तु उसका प्रताप भी कलिंग मे उसके बाद ही कदाचित् नष्ट हो गया था। इस प्रकार इतिहासातीत काल से चला आता जैन प्रभाव मगध की भूमि से सदा के लिए तिरोहित हो गया, क्योंकि निरपेक्ष राज्याश्रय भी उसे वहाँ फिर कभी प्राप्त नहीं हुआ। सारे भारतवर्ष मे तब से वैदिक आर्यों व वैदिकधर्म का साम्राज्य जम ही गया। जैनसंघ का विघटन और विकेन्द्रीकरण भी होने लगा था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। राज्याश्रय के साथ ही धर्मनायकत्व भी जैनों का मगध में टूटता और शिथिल होता जा रहा था। वस्त्रत्व और नग्नत्व को ले कर धर्म-नायकत्व जंबू-केवली के मोक्षगमन पश्चात् दो पृथग्धाराओं मे विभाजित हो ही गया। हो सकता है कि इसको वर्तमान रूप भद्रबाहु श्रुतकेवली के पश्चात् ही किसी समय मिला हो; क्योंकि उन तक तो दोनो ही सम्प्रदायों के अनुसार द्वादशांग और चौदह पूर्व का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से चला ही आया था। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार काल-प्रभाव से इस ज्ञान के विस्मरण हो जाने का ज्योंही भय हुआ त्यों ही भद्रबाहु श्रुतकेवली की जीवितावस्था में ही परन्तु उनके बारहवर्षीय योगसाधना के लिए नेपाल चले जाने पर, उनके उत्तराधिकारी स्थूलभद्र की प्रधानता मे आगमश्रुत को व्यवस्थित करने के लिए वि० १६० के लगभग पाटलिपुत्र में श्रमणसंघ एकत्र हुआ और जब चौदहवें पूर्वों का ज्ञान व्यवस्थित नहीं किया जा सका तो उसकी वाचना लेने के लिए स्थूलभद्र सहित ५०० अन्य साधुओं को उनके पास नेपाल में भेजा गया, जहा केवल स्थूलभद्र ही १० पूर्वोंका अर्थ सहित और शेष चार पूर्वों का मूलतः ज्ञान इस प्रतिज्ञा पर प्राप्त कर सके कि वे उन चार पूर्वों को किसी को नहीं पढावेंगे;

---

१ स्थानाङ्ग स्था-६२१

क्योंकि इसका दुरुपयोग जब कुलीन भी किए बिना नहीं रह सका तो दूसरों की बात ही क्या ? इस प्रतिज्ञा पर स्थूलभद्र ने उन चार पूर्वों का जो ज्ञानप्राप्त किया वह उनके स्वर्गस्थ होने पर उनके साथ ही इसलिए समाप्त हो गया। कालप्रभाव और मृतिनाश आदि कारणों से श्रुत को सुरक्षि रखने के लिए वीरात् ८२७ और ८४० को अवधि मे दूसरी वाचना मथुरा और वल्लभी में और तीसरी वीरात् ९८० या ९९६ में वल्लभी में की गई और इस अंतिम वाचना में पूछ पूछ कर देवर्षिगणि क्षमाश्रमण ने सारा श्रुत लिख लिया और लिखते समय पाठान्तर भी लिखने का उन्होने बराबर ध्यान रखा और इसी लिए दिगम्बर सम्प्रदायवाले इसे देवर्षि-क्षमाश्रमण कृत श्रुत कहते हैं और आगम नहीं, जैसा कि श्वेताम्बर मानते है।

परन्तु दिगम्बर परंपरा में इस प्रकार के किसी भी प्रयास का कोई उल्लेख नहीं है। यह एक आश्चर्य की ही बात लगती है। विशेष कर इसलिए कि वीरात् ७ वीं सदी याने ६१४ के लगभग (वि० सं० १४४) एक आचारांगधारी आचार्य धरसेन ने इस चिंता से कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञान का लोप हो जाएगा आंध्र देश की महिमानगरी के मुनिसम्मेलन को पत्र लिखा और तदनुसार पुष्पदंत और भूतबलि दो मुनि उनके पास भेज दिए गए जिनकी बुद्धि की परीक्षा कर उन धरसेनाचार्य ने बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वों के तथा पांचवें अंग व्याख्या-प्रज्ञप्ति के कुछ अंशों को उन्हें पढ़ाया और इनमें से पुष्पदंत ने बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बना कर अपने शिष्य जिनपालित को भूतबलि के पास भेज दिया और उन्होंने तब द्रव्यप्रमाणानुगम आदि लेकर षट्खंडागम को पूर्ण किया।[1] (षट्खंडागम, प्रथम भाग पृ० ६७-७१ यहां यह द्रष्टव्य हैं कि जैन संघ का दिगम्बर-श्वेताम्बर में स्पष्ट विघटन दिगम्बर मतानुसार वि० सं० १३६ और श्वेतांबर मतानुसार वि० सं० १३९ में माना जाता है। अतः षट्खडागम का बारहवें अंग दृष्टिवादान्तर्गत पूर्वो और व्याख्याप्रज्ञप्ति पंचमांग के कुछ अंशों से उद्धरण इस स्पष्ट विघटन के ८ या ५ वर्ष बाद ही किया गया, परन्तु इसके पूर्व श्रुतज्ञान के संरक्षण या उद्धरण का कोई भी प्रयत्न क्यों नहीं किया गया और उसे विस्मरण व विच्छिन्न क्यों हो जाने दिया गया, विचित्र सा लगता है और इसे अबूझ पहली ही कहा जा सकता है। अस्तु।

श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के तृतीय पट्टधर प्रभवस्वामी को अपने ही शिष्यों में योग्य उत्तराधिकारी दिखलाई नहीं दिया और तब उनका ध्यान इस खोज में वैदिक ब्राह्मणों की ओर गया जहाँ उनकी दृष्टि राजगृह के वेदवादी और यज्ञयाग में लीन

१ डा० हीरालाल जैन सम्पादित 'षटखंडागम' प्रथम भाग पृ० ६७-७१।

ब्राह्मण स्वयंभव पर या कर घटक गई। तब उन्होंने अपने शिष्यों द्वारा सार तत्व के विषय में उसके मन में संशय उत्पन्न करा कर उसे अन्त में अपना शिष्य बना ही लिया और समय आने पर युगप्रधानत्व उसके हाथ में सौंप आप दिवगत हो गए।[1] इन्हीं स्वयम्भव-स्वामी ने जैन साधु-साध्वियों के आचार-गोचर विषयक 'दशवैकालिकसूत्र' बनाया था जिसको श्वेताम्बरों मे अब तक अग सूत्र जैसी ही मान्यता है। दशवैकालिक सूत्र दिगम्बर जैनों के उन अंगबाह्य १४ सूत्रों मे से है कि जिन्हे वह सम्प्रदाय अंगसूत्रों के समान ही सम्पूर्णतया विच्छेद चला गया मानता है।[2] ये चौदह अंगबाह्य शास्त्र भी गौतम गणधर की ही रचना है अथवा अन्य किसी आचार्य की, इसका कोई भी उल्लेख नहीं है। किंचित् शाब्दिक हेरफेर के साथ दशवैकालिसूत्र की अनेक गाथाएं दिगम्बर मान्य ग्रंथों में अवश्य ही आज भी खोज निकाली जा सकती हैं।[3] इस विच्छिन्न हो गए दशवैकालिक पर भगवती आराधना की विजयोदया-टीका रचयिता अपराजित सूरिने टीका रची है ऐसा उन्होंने उसी टीका में स्पष्ट लिखा है।[3] जैनसंघ का दिगम्बर-श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में स्पष्ट रूप मे विघटन यद्यपि वि० सं० १३६ या १३९ के लगभग जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हुआ, फिर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्यों के पृथक् कुल तो वीरात् १७० से पहले ही बनने लग गए थे। श्वेताम्बर स्थविरावलियों से यह विघटन हम जहां श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्यों से प्रारम्भ होता पाते हैं, वहा दिगम्बरों मे, संद्धर्मसंघकी इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के अनुसार, ऐसा ही विघटन हम वीरात् ५६५ में हुआ देखते है जब कि आचार्य अर्हद्बलि ने पूर्वदेश के पुंड्रवर्धनपुर में पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमण के लिए एकत्रित हुए यति-सम्मेलन में पक्षपात का आग्रह देख कर नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, आदि आदि भिन्न भिन्न सघ इसलिए स्थापित कर दिए थे कि एकत्व

१ पंडित गोपालदास, 'ममीसोभनो उपदेश' 'उपोद्घात पृ० ४-५, देखो हरिभद्रसूरि, 'दशवैकालिकवृत्ति' और हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन्' भी।

२ डा० हीरालाल जैन, षट्खंडागम' भाग १ पृ० ९६।

३ वही पृ० ९९ जहा वट्टकर के 'मूलाचार' से उद्धृत १०१२-१३ गाथाएं दशवैकालिक अध्या ४ गाथा ७-८ से तुलना की गई।३ 'भगवती आराधना' की 'विजयोदया' टीकाकार भी मिलता है। "दशवैकालिक टीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते' अर्थात् श्रीदशवैकालिक की विजयोदया टीका में उद्गमादि दोषों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है इसी से यहां पर उसका विस्तृत कथन नहीं किया जाता"-उग्गमउप्पादणादि' गाथा ११-७ अनेकान्त, वर्ष २ किरण १ पृ० ५५ सम्पादकीय लेख लुप्तप्राय जैन साहित्य।

और अपनत्व की भावना से खूब धर्म-वात्सल्य और धर्म-प्रभावना बढे।[४] श्वेताम्बरों में भी आगे जा कर साधुओं का ८४ गच्छों में स्पष्टरूप से विघटन वीरात् १४६४ - वि० सं० ६६४ में उद्योतनसूरि द्वारा इसी लक्ष्य से हुआ कहा जाता है।[५] परन्तु गोदास गण और उसकी शाखाएं-ताम्रलिप्तिका-कोटिवर्षिका, पुंड्रवर्धनिका और दासखर्वटिका तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य से ही निकल गई थी।[६] फिर सम्प्रति प्रतिबोधक आर्य सुहस्तिन् के बारह शिष्यों से भी कितने ही गण, कुल और शाखाएं निकलीं और ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि इन कुलों, गणों और शाखाओं से उनके समय में और उनके बाद भी जैनधर्म का खूब ही प्रचार हुआ था।[७]

फिर सुस्थितसूरि से कोटिक गण का प्रारम्भ हुआ और इनसे छठें युगप्रधान श्री चन्द्रसूरि से इसी गण की वज्र शाखा और चन्द्र कुल निकले! इनके पट्टधर समंतभद्रसूरि से वनवासी गच्छ निकला।[८] इस प्रकार यह विघटन-परम्परा तब से बराबर ही चलती रही है। परन्तु इस विघटन को हम विकेन्द्रीकरण कहे तो ठीक होगा; क्योंकि इसका लक्ष्य अपनी स्वतंत्र सत्ता-स्थापन करना अथवा बढ़ाना प्रमुखतया नहीं था; अपितु संघ की समृद्धि के लिए शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण और प्रयोग था। इस लक्ष्य से यह विकेन्द्रीकरण सफल भी हुआ जैसा कि प्रभावकचरित्र आदि में लिखित आचार्यों की जीवनियो से स्पष्ट ही प्रकट होता है। दूसरी बात यह भी है कि इस काल मे बहुत ही कम आचार्यों ने अपनी ख्याति को चिरजीवी करने को पुस्तक या प्रतिमा-प्रशस्तियों का लाभ उठाया है; हालांकि इस उपेक्षा से यह हानि भी हुई कि जैन इतिहास लिखने की कठिनाइयाँ बढ़ गई। यदि ऐसा किया गया होता तो उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, मानतुंग कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, मर्दाभल्लोच्छेदक कालकाचार्य, आदि आदि के समय, स्थान, वंश और गुरुपरम्परादि का कोई विवाद ही नहीं है जैसा कि आज है और जिसमें हमारे शाधी विद्वानों का अमूल्य समय व्यय होते हुए भी विवाद का अन्त आता ही नहीं है। उस समय के आचार्य प्रायः स्व-नामख्याति से ऊपर उठे हुए और महान् थे। उन्हें भगवान् महावीर के

४ डा० हीरालाल जैन, 'षट्खंडागम' भाग १, प्रस्तावना, पृ० १४।

५ विजयानन्दसूरि (आत्मारामजी), जैन तत्त्वादर्श', जन्म शताब्दी संस्करण पृ० ५०१, वलि रामलाल जी 'महाजैनवंश मुक्तावली' पृ० १६७।

६ कल्पसूत्र; स्थाविरावली।

७ डा० योकोबी, 'सेक्रेट बुक्स आफ दी ईस्ट' पुस्त. २२ पृ० २६० टि० १।

८ विजयानन्दसूरि आत्मारामजी), जैन तत्त्वादर्श पृ० ४६१ और ४६६।

सिद्धान्त में पूर्ण श्रद्धा थी एवम् जनहितार्थ उसका अधिकतम प्रचार करना ही उन्हें प्रिय था। अपने नाम की छाप लगा कर अपनी प्रसिद्धि की कोई भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अभिलाषा उनको नहीं थी।

विच्छिन्न भावना का प्रवेश कैसे और कब हुआ ?

विकेन्द्रीकरण में जहाँ लाभ हुआ वहां कुछ हानि भी। हानि हुई है सामयिक आवश्यकता के विचार से लिए हुए अपवाद पदों का उत्सर्गीकरण और इस प्रकार उत्तरोत्तर शिथिलाचार-प्रवर्तन। चैत्यवास और वस्त्र-पात्र परिग्रहवाद जैसा कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधुओं में देखा जाता है, सब इसी का परिणाम है और इसने समय की चेतावनियों की भी भारी उपेक्षा कराई है जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होगा। इसीने साधुओं में विच्छिन्नीकरण की भावना उत्पन्न की और उनको खूब ही बढ़ाया। इस विच्छिन्नीकरण की भावना का बीज हमें आर्यमहागिरि की उस घटना में प्राप्त होता है जब कि उन्होंने अपने उत्तराधिकारी सम्प्रति-प्रतिबोधक आर्यसुहस्तिन् के साथ राजपिंड-सेवन के कारण सहभोज-संभोग बंद कर दिया था।[1] यद्यपि यह संभोग सुहस्तिसूरि के बाद में मिच्छामि दुक्कड करने पर, जैसा कि निशीथचूर्णि में कहा गया है, फिर से चालू कर दिया गया था। परन्तु इसका विधान श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सदा सर्वदा के लिए तब से न केवल प्रचलित ही हो गया, अपितु धीरे धीरे उसके बारह प्रकार तक विकसित हो गए जिसका विस्तार से विवेचन निशीथसूत्र के पांचवें उद्देश के भाष्य में देखा जा सकता है। इस विधान के कारण भिन्न गण-गच्छ के साधु-साध्वियों के साथ आहार-विहार अध्ययन-अध्यापन, वैयावच्च परिचर्या आदि तक स्व-गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना बंद हो गया और वैसा करनेवाला प्रायश्चित्त का भागी तक बना दिया गया। यह भावना धीरे धीरे विकृत रूप में श्रावकों में भी फैली और वे भी अपने ही मान्य गुरु के गच्छातिरिक्त साधु-साध्वियों को आहार-वस्त्रादि दान देने तक में विचार करने लग गए। अहमदाबाद आदि नगरों में उपाश्रयों में प्रत्येक साधु को ठहरने नहीं देने की प्रथा जो आज देखी जाती है, इसी संभोग-प्रसंग प्रथा का विकृत उदाहरण है।

अपवाद के उत्सर्गीकरण के उदाहरण

इन आर्य सुहस्तिन् से छठे[2] युगप्रधान आर्यवज्र हुए जिनका समय एक ओर तो इतना संयम प्रधान था कि दुष्काल में भी अपवाद रूप से विद्यापिंड नहीं भोग कर अनशन ग्रहण

---

१ मुनि कल्याणविजयजी 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' पृ० ८८ टि० ६७।

२ माथुरी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य सुहस्तिन से नौवें आर्यवज्र हैं। वी० नि० सं० पृ० १२६।

करनेवाले भी उनके शिष्यों में हुए, तो दूसरी और चैत्यवास के प्रचारक और प्रसारक भी कि जो द्रव्यपूजा का न केवल सीधा उपदेश ही देते थे; अपितु तत्सम्बन्धी अपनी सावद्य क्रियाओं का पोषण-समर्थन भी करते थे। स्वयम् वज्रस्वामी ही विद्याबल से बहुत दूरस्थ प्रदेश में जा कर श्रावकों के लिए देवपूजार्थ पुष्प लाए, ऐसा श्री हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में और प्रभाचन्द्रसूरि ने प्रभावकचरित्र के 'वज्रस्वामी-प्रबंध' में स्पष्ट ही कहा है।[1] इन वज्रस्वामी का स्वर्गवास वीरात् ५८४=वि० स० ११४ में हुआ। मूर्तिपूजक सुविहित कहलानेवाले साधुओं की कतिपय सावद्य कही-मानीजानेवाली प्रवृत्तियां किसी न किसी बहाने आज तक भी किसी न किसी रूप में चल रही हैं, हालांकि इसका विरोध करनेवाला एक गच्छ भी तेरहवीं सदी में स्थापित हो गया था। खेद है कि वह इस प्रवृत्ति को रोकना तो दूर, स्वयम् को भी शिथिलाचार से सुरक्षित नहीं रख सका।

इन्हीं वज्रस्वामी के शिष्य और उत्तराधिकारी श्री आर्यरक्षित ने साधुओं को 'मात्रक' के लिए एक अतिरिक्त पात्र रखने की आज्ञा दी जो कि पहले नहीं रखा जाता था। इस आज्ञा के पीछे बहुत संभव है कि, सामाजिक निन्दा का कारण भी रहा हो; क्योंकि तब तक जैन साधु साध्वी सामान्यरूप से नगरवासी हो चुके थे। इन्हीं आर्यरक्षित ने शास्त्रों को चार अनुयोगों में पृथक् किया और साध्वियों के समक्ष ही साध्वियों की आलोचना-प्रायश्चित्त लेने की सनातन प्रथा को स्थगित कर उनका साधुओं के समक्ष ही आलोचना-प्रायश्चित्त करने-लेने का विधान भी किया।[2] साधु-साध्वियों के समानाधिकार पर यह पहला या दूसरा प्रहार कहा जाना चाहिए, क्योंकि नव-दीक्षित साधु को संयमवृद्ध साध्वी के वंदन करने का विधान भी किसी आचार्य द्वारा कर दिया गया था।[3] ऐसा भी कहा जाता है कि इनके समय तक साधु चोलपट्ट (कटिवस्त्र) आदि उपकरण भी आवश्यकता के समय ही प्रयोग करते थे। परन्तु उनके पिता ने दीक्षा लेने पर वस्त्रों के इस अपवाद नियम को भी यह कह कर उत्सर्ग ही बना दिया कि "नग्गो न स्वामहं पुत्र मा वंदध्वं सपूर्वजाः" अर्थात् मैं नग्न नहीं होऊंगा, चाहे तुम अथवा तुम्हारे पूर्वज कोई भी मुझे वंदना मत करो।[4]

१ मुनि कल्याणविजय, प्रभावकचरित्र (भाषान्तर) प्रबंधपर्यालोचन, पृ० १६।

२ वही पृ० २०।

३ धर्मदासगणि, 'उपदेशमाला' गाथा। इन्हें भ० महावीर हस्तदीक्षित माना जाता है, परन्तु ग्रन्थ परीक्षक इन्हें छठी-सातवीं से प्राचीन नहीं मानते। इस दृष्टि से आर्य रक्षित का विधान पहला कहा जा सकता है।

४ मुनि कल्याणविजयजी, प्रभावकचरित्र (भाषांतर), प्रबंधपर्यालोचन, पृ० २०।

कालकाचार्य का भाद्रपद शुक्ला ४ का अपवाद रूप संवत्सरी पर्व जिस प्रकार उत्सर्ग नियम बन गया वैसे ही अनेक अपवाद उत्सर्ग नियम अधिकाधिक बनते गए हैं, यह इस प्रवृत्ति से स्पष्ट है।

विच्छिन्नीकरण भावना ने फिर नए विधि-विधानों के सम्प्रदायों को बढ़ाया विघटन और विकेन्द्रीकरण की परम्परा श्वेताम्बरों में इस प्रकार बढ़ती रही थी, परन्तु अब इसमें विच्छिन्नीकरण यानी स्व-सम्प्रदाय बनाने की भावना का प्रवेश होने लगा और राजाओं से मिले विरुद इसके निमित्त कारण बन गए। पहले राजाओं ने जागीरें, धन, छत्र, चामर, वाहन आदि दिए जिनका विपर्यास चैत्यवास में हुआ था। अब चैत्यवास का विरोध करने वाले ही राजाओं के विरुदों का उपयोग विधि-विधान में बढ़ा-घटा कर स्व-सम्प्रदाय बनाने और चलाने में करने लगे। वि० सं० १०७८ के लगभग में चन्द्रकुल के वर्धमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि को अणहिलपुर के राजा की ओर से चैत्यवासियों पर वाद में विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में 'खरतर' विरुद दिया गया था। फिर भी उन्होंने उसका उपयोग अपने जीवन में और अपने श्रमण-काल में निश्चित विधि-विधानवाला अपना कोई भी पक्ष स्थापन में नहीं किया। पर उनके शिष्य अपने गुरु को महत्व देकर और उन्होंने 'खतरतरगच्छ' नाम से, उनसे कोई पचास वर्ष बाद ही, एक अपना सम्प्रदाय स्थापित कर ही लिया और उसमें कई नए विचार और नए विधान भी सम्मिलित किए जिनमें से एक 'षट्कल्याणक' का विधान भी था जिसका कि मूल स्थानांग स्थान ४११ और दशाश्रुतस्कंध की आठवीं दशा में अवश्य ही प्राप्त है। स्थानांग, स्थान ४११ में भ० महावीर के पांच मांगलिक प्रसंगों में दूसरे स्थान पर गर्भापहरण और अंतिम केवल ज्ञान का प्रसंग गिनाया गया है और मोक्ष छोड़ ही दिया है जब कि अन्य तीर्थंकरों के पांच मांगलिक प्रसंगों में अन्तिम प्रसंग मोक्ष गिनाया गया है। दशाश्रुतस्कंध में कहा गया है कि भ० महावीर के पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी में हुए और भगवान स्वाति नक्षत्र में मोक्ष को प्राप्त हुए। उक्त पांच कल्याणकों में ही गर्भापहार को दूसरा कल्याणक गिनाया है; परन्तु कल्याणकों की पांच की पांच की संख्या को कायम रखने के लिए मोक्ष को कल्याणक वहां भी नहीं कहा गया है और इतना ही कह दिया गया है कि भगवान् स्वाति नक्षत्र में मोक्ष गए।

'कथाकोशप्रकरण' की प्रस्तावना में श्री जिनेश्वरसूरि पर लिखते हुए मुनि जिनविजयजी कहते हैं कि वे अपने उपदेश से और अपने आचार से तात्कालीन जैन यति-समाज में, एक नई परिस्थिति का, विशिष्ट आन्दोलन उपस्थित कर गए। उनके इस आन्दोलित वातावरण के कारण, उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वल्प समय में ही-प्रायः अर्धशताब्दी के अंतर्गत ही जैन

श्वेताम्बर यतिवर्ग में कितने ही साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्ष-विपक्षों का प्रादुर्भाव हो गया। इन पक्षों में परस्पर अस्मिता और प्रतिस्पर्धा का जोर बढ़ने लगा और वे एक दूसरे के मन्तव्यों का व्यवस्थित खंडन–मंडन करने में प्रवृत्त होने लगे। वाद–विवाद का विषय केवल चैत्यावास और वसतिवास तक ही सीमित नहीं रहा, परन्तु मन्दिरों की प्रतिष्ठा, उपासना, पूजा, आदि के विविध विधि–विधानों के बारे में तथा साधु–साध्वियों के आहार–विहार के बारे में, एवं गृहस्थों के भी कुछ क्रिया–काडों के बारे में भिन्न भिन्न प्रकार के कितने ही वाद–विवादात्मक विषय उत्पन्न होने लगे और उनका मुख्य करके पृथक्-पृथक् गच्छानुयायियो का परस्पर संघर्ष होने लगा।'[1] आगे जाकर वे कहते हैं कि 'इसी संघर्ष के परिणाम से जिनवल्लभसूरि को अपना एक नया विधि–पक्ष या विधि–मार्ग नामक विशिष्ट संघ स्थापन करना पड़ा जिसका विशेष पुष्टीकरण एवं दृढ संगठन इनके उत्तराधिकारी जिनदत्तसूरि ने किया। जिनवल्लभसूरि के विशाल उपासक वृन्द का नायकत्व प्राप्त करते ही जिनदत्तसूरि ने अपने पक्ष की विशिष्ट संघटन करना शुरू कर दिया। जिनेश्वरसूरि प्रतिपादित कुछ मौलिक–मन्तव्यों का आश्रय लेकर और कुछ जिनवल्लभसूरि के उपदिष्ट विचारों को पल्लवित कर, इन्होंने जिनवल्लभसूरि स्थापित 'विधिपक्ष' नामक संघ का बलवान और नियमबद्ध संगठन किया जिसकी परम्परा का प्रवाह, जिसे प्राय: अब ८०० वर्ष पूरे होते हैं, आज तक अखंडित रूप से चलता रहा है।''[2] यह विधिपक्ष ही 'खरतरगच्छ' कहलाने लगा जिसको तपागच्छ पट्टावलियां जिनवल्लभसूरि द्वारा स्थापित कहती हैं और खरतरगच्छ पट्टावलियां जिनेश्वरसूरि स्थापित दोनों गच्छों के बीच कालान्तर में यह स्थापना-मतभेद भी घोर संघर्ष का विषय हो गया; क्योंकि पहला पक्ष इसे वि० सं० ११३९ में स्थापन हुआ कहता है और दूसरा पक्ष सं० १०८८ में ही। राजों द्वारा अर्पित ध्वज, छत्र वाहन जागीर आदि वैभवों के उपभोग करने वाले चैत्यवासियों का विरोध जहां विधिपक्ष को जन्म देता है, वहां वही विधिपक्ष राजा के दिए विरुद से नए विधि–विधान का अपना सम्प्रदाय बनाने में उत्साह दिखाए यही आश्चर्य है। इसी परम्परा मे आगे चल कर 'तपागच्छ' का भी उद्भव हुआ। आज जब कि विरुद प्रदान करनेवाले कोई राजा नहीं रहे, जो उपाधिमोह की वृप्ति के लिए उपाधित्यागी वर्ग 'सूरि सम्राट' आदि मनचाही उपाधियाँ अपने नाम के पीछे लगाने लगा है और इनकी कोई सीमा ही नहीं है। एक दूसरे से अधिकाधिकलेखी उपाधि पूँछ लगाने लगवाने का वह इच्छुक है। जबसे इस नए विधान और विचार के

१ मुनि जिनविजयजी सम्पादित 'कथाकोश प्रकरण' सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, प्रस्तावना पृ० १६

२ मुनि जिनविजयजी वही, प्रस्तावना पृ० १८।

रोग ने श्वेताम्बर जैन संघ में जड़ें जमाई है, उप-सम्प्रदाय तब से बनते ही गए हैं। फलतः सं० १२१३ में 'आंचलिक', सं० १२४६ में 'सार्धपौर्णमिक', सं० १२५० में 'आगमिक', सं० १२८५ में 'तपा' नाम से ऐसे सम्प्रदाय बन गए कि जिनकी क्रियाओं में, उपकरण स्वरूप में, भेद ही प्रधान महत्त्व का है। परन्तु इस परम्परा में विषाक्त फल तो विक्रमी सोलहवीं सदी में, जब कि सं० १५०६ में गृहस्थ लोंकाशाह ने मूर्तिपूजा को अमान्य करनेवाले आज क स्थानकवासी सम्प्रदाय को जन्म दिया, फूटा। यह सम्प्रदाय उन लोंकाशाह द्वारा स्थापित लौंकागच्छ और उसकी क्रियाओं व विधियों को भी आज अमान्य करता है; क्योंकि लौंकागच्छीय यति सभी नहीं तो अनेक मन्दिरों के मठाधीश बने हुए है और मूर्तिपूजा पोषते और मानते हैं। दूसरा विषाक्त फल स० १५६२ मे 'कडुकमत' नाम से फूटा था। फिर सं० १५७२ में 'बीजामत' और सं० १५७५ मे 'पार्श्व चन्द्र या पायचन्द गच्छ' निकला।[1] इन सब के आचार-विचार और विधि-विधान की चर्चा करना यहां अावश्यक है। सब स नया सम्प्रदाय 'त्रिस्तुति' का है जिसकी स्थापना सुप्रसिद्ध अभिधान राजेन्द्र-कोश प्रणेता श्री विजयराजेन्द्रसूरि जी ने सं० १९२३ मे यतिशिथिलाचार व आडम्बर को त्याग क्रियोद्धार करते समय की और मूर्तिपूजकों मे वाद-विवाद का एक नया वितंडा खड़ा कर ही दिया।

पूर्व इसके कि इन अनेक सम्प्रदायों ने श्वेताम्बर संघ को कितना विक्षुब्ध, तब ही नहीं अपितु उसके बाद भी, किया, उसके एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाएँ, जैनाचार्यों की एक अन्य प्रवृत्ति की ओर भी ध्यान खींचना आवश्यक है। ऊपर सं० १२८५ में तपागच्छ की स्थापना होने का कहा जा चुका है। जिन जगच्चन्द्रसूरि को उनकी बारह वर्षीय घोर तपस्या से प्रभावित हो कर उन्हे 'तपा' का विरुद राजा की ओर से दिया था और इसी कारण उनका प्राचीन 'बडगच्छ' 'तपागच्छ' कहा जाने लगा था, जब क्रियोद्धार भी किया तो उनके ही शिष्य-किसी के मत से उनके ही गुरुभाई-श्री विजयचन्द्रसूरि ने सं० १३०२ में एक घोषणा द्वारा चलते हुए शिथिलाचार का पोषण कर अपनी सत्ता अचल बनाने का प्रयत्न भी किया था। वह घोषणा इस प्रकार थी, १. गीतार्थ वस्त्रों की गठड़ियां रख सकते हैं, २. वे सदा सर्वदा घी-दूध खा सकते हैं, ३. वे कपड़े धो सकते है, ४. वे फल तथा शाक ले सकते हैं, ५. वे साध्वी द्वारा लाया हुआ आहार खा सकते हैं, और ६. वे श्रावकों को खुश करने-अपने पक्ष में करने के लिए उनके साथ बैठ कर प्रतिक्रमण कर सकते हैं।[2]

---

१ प० बेचरदास, 'जैन साहित्यमां विकार 'थवा थी थयेली हानि' में धर्मसागरगणि की शोधित पट्टावली से।

२ वही।

तब यह घोषणा क्रियाशील साधुओं को और समझदार श्रावकों को कदाचित् अनुचित भी दीख पड़ी हो, परन्तु आज तो प्रायः सभी मूर्तिपूजक साधु इनका अनुसरण करते हुए ही देखे जाते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी साधुओं की जीवनचर्या मैंने उतनी निकट से नहीं देखी है, इसलिए मने यहां मूर्तिपूजक साधुओं की चर्या को ही कहा है; क्योंकि वह मैंने देखी है। विचारों और विधानों के भेद के कारण तब से साधुओं में इतनी शाखाएं और प्रतिशाखाएं फूटती रही हैं कि उन सबका जिक्र करना असम्भव एवं निरर्थक दोनों ही है। कुछ काल-कवलित हो गई तो कुछ खूब ही फल-फूल रही हैं। उदाहरणार्थ स्थानकवासियों में भी एक समय २६ टोले हो गए थे और उसी के एक टोले में से सं० १८१८ में निकले श्री भीषणजी की नई विचार-धारा ने उस तेरापंथ-उपसम्प्रदाय को जन्म दिया कि जिसका नेतृत्व आज जैन साधुओं में अनुपम प्रचारक श्री तुलसीगणि कर रहे हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि जैनमुनि के वेश में चौबीसों घंटे मुंह पर मुहपत्ती बंधी रखने की प्रथा का प्रचलन भी अठारहवीं सदी प्रारम्भ में किसी ऐसे लोंकागच्छी या स्थानकवासी मुनि ने किया कि जिसको अपने सम्प्रदाय के मुनियों की पहिचान सुलभ और सहज करना आवश्यक प्रतीत हुआ; क्योंकि वायुकाय के जीवों की मुंह की भाफ से ही हिंसा होती हो और चलने फिरने आदि प्रवत्तियों से नहीं, यह बात किसी को समझ में तो नहीं आ सकती है। जिन आचार्य श्री भीषणजी को यह महावीर की भूल पकड़ में आ गई, उन्हें चौबीसघंटा मुंह पर मुहपत्ती बंधी रखने में भी भूल हो सकती है इसका क्यों सदेह तक नहीं हुआ ?

सम्प्रति के पश्चात् राज्याश्रय चौलुक्यों का ही मिला

धर्म को राज्याश्रय का बल ही प्रचार करता है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति धर्म के विषय में भी उतनी ही सत्य है जितनी कि अन्यत्र। अंग, बंग, मगध और कलिंग में से पैर उखड़ने पर जैनों और बौद्धों, दोनों ने ही उज्जयिनी और मथुरा में केन्द्र बना कर पैर जमाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया था; बौद्धों को कनिष्क राज्याश्रय प्राप्त भी हो गया था; परन्तु जैनों को मथुरा में ऐसा कोई राज्याश्रय प्राप्त हुआ हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी वहां के कंकालीटीले के जैन ध्वंसावशेष ही प्रमाणित करते हैं कि मथुरा भी जैनों का केन्द्र कुछ सदियों तक अवश्य ही रहा था और तभी तो वीरात् ८२७ और ८४० में वहां दूसरी स्कांदिली वाचना हुई या उसका होना सम्भव हुआ। परन्तु इसी समय वल्लभी में भी नागार्जुनाचार्य की अध्यक्षता में वाचना का होना यह प्रमाणित करता है कि वल्लभी भी मथुरा जितना ही महत्व का जैनों का केन्द्र हो गई थी और तीसरी एवम् अंतिम देवर्धिगणि की अध्यक्षता में वाचना का वहां ही होना इस बात को और पुष्ट करता है।

इस समय के राज्याश्रय का इतिहास निश्चित कुछ भी नहींकहा जा सकता है; पर वह प्राप्त अवश्यक ही होगा। चावड़ा वंश के वनराज के समय से सोलंकियों के अन्त तक जैनों को राज्याश्रय वहाँ बराबर मिलता ही रहा, यह इतिहास-विदित है। हेमचन्द्राचार्य और राजा कुमारपाल के समय यह उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था, और इस अवधि में श्वें जैनों ने वहाँ धर्म की जो जड़ें जमाईं वही अब तक भी वृक्ष रूप में लहलहा रही हैं। मगध से उखड़ कर वल्लभी और पाटण मे जमने तक जैनाचार्यों ने मंत्र-तंत्र का प्रयोग कर जैन जातियां अवश्य ही बनाई और कुछ राजों का आश्रय भी पाया था एवं इस प्रकार धर्म को पुनरुज्जीवन भी समय समय पर दिया, परन्तु वीरात् २०० से विक्रमात् १००० तक की लंबी अवधि ऐसी रही कि जिसमें से उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्रसूरि, समन्तभद्र, आदि आचार्यों के कर्तृत्व को निकाल दिया जाए तो अभिमान करने का कुछ भी बच नहीं रहता है। इस काल में जिनसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि ने जैन न्याय को यदि सुव्यवस्थित नहीं किया होता तो जैनधर्म का भविष्य क्या रहा होता, आज कहना कठिन है। इसी अवधि में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, संघदासगणि, जिनदास महत्तर मलयगिरि आदि श्वे भाष्यकार और टीकाकार हुए जिनकी कृतियां ही अनेक आगमिक उलझनों को सुलझाती हैं। इस कालमें चैत्यवास ने साधुओं को शिथिलाचारी बनाया इसमें संदेह ही नहीं है; परन्तु मूर्तिपूजा के प्रचार द्वारा उनने गृहस्थवर्ग में जैनधर्म कायम रखा यह भी स्वीकार करना ही होगा। चैत्यवास ने साधुओं में और सभी बुराइयां चाहे प्रवृत्त की हों, परन्तु स्त्री-परिग्रह की बुराई का प्रवेश जरा भी नहीं कराया। अहिंसा, सत्यआदि व्रतों में संघ-प्रतिष्ठा की झूठी धुन में, कभी कभी सर्वथा अनुचित मार्ग का अवलम्बन लेने की ऐसी ऐसी आज्ञाएं भी इसी अवधि में दी गई हमें छेदसूत्रों के भाष्यों मे मिलती है कि जिसका समर्थन आज का प्रबुद्ध मानव किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता है, यह कह कर भी नहीं कि उस काल में वही उचित था। परन्तु ब्रह्मचर्य के विषय में कभी भी कोई अपवाद नहीं बताया गया क्योंकि अब्रह्मचार्य की सेवना रागद्वेष के अभाव में होती ही नहीं है, ऐसा जैनो का सदा ही दृढ़ विश्वास रहा और है। अतः इसके भंग के लिए यथोचित प्रायश्चित ग्रहण किए बिना शुद्धि संभव ही नहीं मानी गई। संयम जीवन की रक्षा के लिए भी यदि कभी ब्रह्मचर्य भंग किया जाए तो भी प्रायश्चित आवश्यक ही रहा और है। (नि० गा० ३६३-३६५, पृ० गाथा ५१४३-४५) यही कारण है कि मंत्र-तंत्र का प्रवेश होते हुए भी जैनों में बौद्धों का सहजयान और गुह्यसमाज प्रेरित साहित्य न तो बना और न इन समाजों और ऐसे साहित्य का प्रचार ही हुआ। इसने भी जैनों को चिरजीवी शक्ति प्रदान की होगी जब कि बौद्ध उसके ही कारण अपने जन्म देश से एकदम ही बहिष्कृत हो गए।

मुख्य राज्याश्रय फिर से गुजरात में प्राप्त करके श्वे० जैन साधुओं में चाहे और दोष प्रवेश कर गए हों, पर ब्रह्मचर्य का दोष तो फिर भी प्रवेश नहीं कर पाया, हालांकि जैसा कि कन्हैयालाल मुन्शी का कहना है कि है गुजरात के इतिहास के विजयी दिवसों में सत्ता, प्रभाव और विद्वत्ता जैनों में ही थी। उसे देख कर उनकी परवर्ती कारगुजारी मुझ को श्रृंगार समान ही लगती है।" पर येन केन प्रकारेण राज्याश्रय प्राप्त करने की भावना अवश्य ही जैन साधुओं में तब घर करने लग गई थी जैसी कि हेमचन्द्राचार्य जैसे के शिष्य बालचन्द्र में हम पाते हैं कि जो कुमार पाल के उत्तराधिकारी अजयपाल का आश्रय पाने के लोभ में अपने गुरुभ्राता रामचन्द्र सूरि के प्रति विद्रोह ही नहीं कर बैठा; अपितु उनकी अकाल और क्रूर मृत्यु तक का कारण हो गया था। इसी प्रकार हम बाद में हीरविजयसूरि के विरुद्ध उनके ही साधुओं का घृणित आचरण पाते हैं। हालांकि वह बालचन्द्र जितना घातक उन्हें नहीं हुआ था।

राज्याश्रय का विरोधी के उन्मूलन में उपयोग

जब सम्प्रदायाभिनिवेश बढ़ जाता है तो विरोधियों के उन्मूलन की इच्छा भी प्रबल हो जाती है, और इसमें राज्याश्रय का पीठबल जब मिल जाता है तो फिर उन्मूलन वृत्ति को कृतकार्य करने की धुन भी सवार हो जाती है। चैत्यवासियों ने चावड़ावंश का आश्रय पाकर अणहिलपाटण में विधिपक्ष के साधुओं का वहां ठहरना बन्द करवाया था और जब जिनेश्वर-सूरि वहां पहुंचे तो इसी कारण उन्हें ठहरने को स्थान ही नहीं मिला था। उनके पाण्डित्य ने उनकी सहायता की और अन्त में चैत्यवासियों को भरी राज-सभा में निरुत्तर कर उन्होंने विधिपक्ष के साधुओं का भविष्य के लिए अणहिलपाटण में न केवल मार्ग ही निष्कंटक किया, अपितु उनके प्रभाव की सुदृढ़ नींव भी वहां ऐसी लगा दी कि जिसका हेमचन्द्राचार्य ने पूरा पूरा आगे चल कर लाभ उठाया।

अब तक वेद-वादी ब्राह्मण और बौद्ध ही जैनों के विरोधी थे और राजसभाओं में वाद कर इन्हीं पर विजय प्राप्त की जाया करती थी। परन्तु अब अपने से भिन्न मान्यतावाली जैन सम्प्रदाएं भी विरोधियों की श्रेणी में परिगणित हो गईं। चैत्यवास की भांति दिगम्बरों से भी वाद किया जाने लगा। कदाचित् सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बराचार्य देवसूरि के बीच हुआ ऐसा वाद जैन इतिहास में पहला भी हो। परन्तु पराजित व्यक्ति देश-बहिष्कृत हो यह उसका प्रतिबन्ध ऐसा था जिसकी अनेकान्त दृष्टि से सराहना नहीं की जा सकती है। पराजित जेता का शिष्य हो जाए, यह प्रतिबंध अनुचित नहीं और इसका वाद-श्रोताओं पर भी प्रभाव जेता के पक्ष में ही पड़ता है। परन्तु जहां वाद का निर्णय किसी अन्य के हाथ में हो तो उस अन्तिम निर्णय के निष्पक्ष होने में

संदेह प्रेक्षकगण यदि करने लगें तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता है। वादी का अभिमान पराजित होने पर द्वेष में बदल जाता है और इसमें लाभ से अधिक हानि ही होती है। सिद्धसेन दिवाकर और हरिभद्र भी वादाभिमानी थे, परन्तु उन्होंने वाद का निर्णय स्वतः ही दिया और परिणाम स्वरूप जेता का शिष्यत्व स्वीकार कर उसके सिद्धान्त का जिस सत्य निष्ठा से फिर उन्होंने समर्थन और प्रचार किया, उसने उन्हें ही नहीं अपितु जैनधर्म को भी गौरवान्वित किया। कुमुदचन्द्र की पराजय से गुजरात में श्वेताम्बरसम्प्रदाय की जड़ सुदृढ़ अवश्य ही जम गई, परन्तु सम्प्रदाय-कटुता तो सदा के लिए स्थायी हो गई जिसने जैनसंघ की प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों से हानि की, इससे इन्कार आज तो किया ही नहीं जा सकता है। पश्चिम भारत में श्वेताम्बरों की और दक्षिण भारत में दिगम्बरों का प्राधान्य कदाचित् इसी कारण से हो।

दूसरा दुःखद उदाहरण १७ वी सदी में होनेवाले उद्भट विद्वान धर्मसागर गणि ने उपस्थित किया। इन्होने अपनी विद्वत्ता का उपयोग सं० १६१७ में 'औष्ट्रिकमतोत्सूत्रदीपिका' खरतरगच्छ के खंडन रूप में और सं० १६१६ में 'प्रवचनपरीक्षा–कुमतिमतकुद्दाल' अनेक तात्कालिक जैन सम्प्रदायों के खंडन के रचने में की। ऐसी कृतियों का परिणाम स्व–सम्प्रदाय पर भी उनके पक्ष में नहीं हुआ; क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भिन्न भिन्न आचार्यों ने उत्सूत्र–प्ररूपणा के कारण इसको जैन संघ से बहिष्कृत कर दिया। इतना ही नहीं अपितु तपागच्छ नायक श्री विजयदानसूरि को 'प्रवचनपरीक्षा-कुमतिमतकुद्दाल' ग्रन्थ ही जल शरण करा 'सात बोलों की आज्ञा' संघ में निकाल देनी पड़ी थी। अन्त में धर्मसागरगणि ने चतुर्विध संघ के समक्ष मिच्छामि दुक्कडं दे कर क्षमा–याचना की और सं० १६२१ में अपनावहिष्कार रद करवाया।[१] इससे लाभ शायद ही हुआ हो, परन्तु साम्प्रदायिक कटुता अवश्य ही बढ़ी जिसका लाभ खरतरगच्छ को कदाचित् इतना नहीं हुआ जितना कि स्थानकवासी सम्प्रदाय को मिला। इसके ही कारण कदाचित् जैन जातियां बनना ही बन्द नहीं हो गई जो कि ८ वी सदी से तो अब तक अवश्य ही बनती जा रही थी और जैनों की संख्या में वृद्धि कर रही थी।[२] अपितु उनका ही इन परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में विभाजन होने लगा। ओसवालों में अन्तिम मुहणोत गोत्री सं० १५९५ में बना कहा जाता है। इस सदी में जन्म लेनेवाले स्थानकवासी सम्प्रदाय ने अथवा सं० १८१८ मे जन्म लेनेवाले इसी के तेरापंथी

१ देसाई मोहनलाल दुलीचन्द, 'जैन साहित्यनो इतिहास' पृ० ५६६ पेरा ८२०।

२ श्री अगरचन्द नाहटा, 'जैन जातियो के प्राचीन इतिहास की समस्या' लेख जो 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण ८–९, भाद्रपद–आश्विन सं० १९९९ पृ० ३२१–३२३।

उपसम्प्रदाय ने अजैनों को जैन बना कर किसी भी या समस्त जैन जाति की वृद्धि की हो ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है। और इसकी उन्हें कदाचित् आवश्यकता भी नहीं थी; क्योंकि इनका उद्भव जैनों को ही उनकी दृष्टि से सच्चे जैन बनाना था। ये जैन जातियां तीनों वर्णों में से ही बनी, परन्तु अधिकांश क्षत्रियों में से जो कि साधारणतया मांसाहारी थे और देवियों को पशुबलि चढ़ाया ही करते थे। तीनों वर्णों में रोटी–बेटी व्यवहार तो पहले से ही मुक्त था, परन्तु जैन बनने के पश्चात् इन्होंने बेटी–व्यवहार अवश्य ही स्वधर्मियों में संकुचित कर लिया जो कि अब तक भी चला आ रहा है। ओसवाल का ओसवाल से ही बेटी-व्यवहार हो, पोरवाल सरावगी आदि अन्य जाति से न हो, यह प्रतिबंध क्यों और कब हुआ कुछ नहीं कहा जा सकता है। ओसवाल और श्रीमाल का बेटी-व्यवहार मुक्त किसी जैनाचार्य ने कराया अथवा जाति के वयोवृद्धों ने ही और विशेषतः मारवाड़ के श्रीमालोंने स्वतः ही किया; यह भी कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनका उदाहरण ओसवाल पोरवाल, ओसवाल-अग्रवाल, ओसवाल–सरावगी (खंडेलवाल) आदि में भी अनुकरणीय हो जाता तो छोटी छोटी जैन जातियाँ जो कितनी ही विलुप्त हो गई या होती जा रही हैं, उनकी समस्या स्वतः हल हो जाती। परन्तु खेद की ही बात है कि दसा-बीसा को लेकर ओसवाल-ओसवाल, श्रीमाल–श्रीमाल, इस प्रकार सभी जातियों में बेटी-व्यवहार और कहीं कहीं रोटी–व्यवहार तक बन्द हो गया और ऐसा पोषण करनेवालों ने अथवा जैनाचार्यों ने इसकी तह तक पहुंच कर इसके पीछे रहे सत्य को खोज कर प्रकाशित करने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया। प्रायः सभी जातियों में दसा बीसा होने या पाए जाने की बात अवश्य ही असाधारण है। अतः गवेषणीय भी; हालांकि आज यह स्वतः हल होती जा रही है और दसों-बीसों में भी बेटी–व्यवहार उसी प्रकार मुक्त होता जा रहा है जैसे जाति-जाति में।

एक ओर राज्याश्रय की समाप्ति से शास्त्रार्थों का युग समाप्त हुआ तो दूसरी ओर छापाखानों और मिलों द्वारा कागज के निर्माण ने वाद–विवादी साहित्य को प्रकाशित किया जाना सुगम कर दिया। फलतः इस प्रकार का साहित्य लिख और प्रकाशित कर वाद–विजय का सेहरा बांधने का अवसर प्राप्त करने में हमारे साधु वर्ग भी नहीं चूके। इसके लिए मतभेदों की तालिका द्रोपदी के चीर समान बढ़ने लगी। उदाहरणार्थ दिगम्बर-श्वेताम्बर में जहां मूलतः नग्नत्व, स्त्री-मुक्ति और केवली–आहार का ही मतभेद था, बढ़ कर चौरासी बातों तक पहुंच गया। और यही हाल तपागच्छ–खरतरगच्छ, मूर्तिपूजक-स्थानकवासी के मतभेदों का हुआ। इसके कारण क्रियोद्धार जिसकी कि साधुओं को सच्ची आवश्यकता थी, भुला दिया गया। और एक की देखादेखी आवश्यक क्रियाएं भी अधिकाधिक हो गई जैसी कि

हमारी आज की प्रतिक्रमण क्रियाओं के लिए कहा जा सकता है और जिनमें कितनी ही पाटियाँ बहुत बाद की प्रवेश पा गई हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों की ही ऐसी दशा नहीं हुई है। दिगम्बर जैनों में भी बीसपंथी, तेरहपंथी, तारणपंथी काष्ठसंघ, द्रविड़ संघ आदि सम्प्रदाय फूटे, जिनका कुछ न कुछ नया आचार और नया विधान है। आज वहां प्रतिमा-पूजा और शास्त्र-स्वाध्याय ही प्रधान है और प्रतिक्रमणादि क्रियाएं सर्वथा भुला दी गई हैं। सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि आज हमें जैन होने का या कहलाने का गौरव नहीं होता। अपितु हम दिगम्बर हैं, हम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक या देरावासी हैं, स्थानकवासी या ढूंढिया हैं; भीखणपंथी-तेरापंथी हैं, कहना और कहलाना ही हम गौरवास्पद मानते हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेदों ने मूर्तिपूजा को दोनों ही सम्प्रदायों में विकृत करने में सहायता दी। दिगम्बर सम्प्रदाय में नग्नत्व-प्रदर्शन के लिए कायोत्सर्ग में खड़ी मूर्तियों को प्रोत्साहित किया, इतना ही नहीं अपितु ध्यानावस्था में उन पर लतावल्लरियां तक चढ़ा दी कि जो शिलापट्ट जैसा निर्जीव स्थान ध्यान के लिए चुननेवाले जैन मुनियों पर चढ़ ही नहीं सकती थीं। परन्तु नग्नता का ध्येय प्रमुख बना लेने के कारण इन वल्लरियों का प्रयोग नग्नता प्रदर्शन के लिए आवश्यक हो गया, अन्यथा ऐसी वल्लरिया बताने की आवश्यकता ही क्या थी कि ये एड़ी से चोटी तक शरीर ढक वाली वल्लरियां लिंग को अनाच्छादित करना खास तौर से भूल जातीं। उधर श्वेताम्बर को ध्यानस्थ वीतराग की मूर्ति की उपासना सन्तुष्ट नहीं कर सकी और कदाचित् अनुचित ही लगी। इसलिए ध्यानस्थ मूर्ति को निरंतर मुकुट कुंडल आभूषणादि पहनाए रख कर राजसी रूप की उपासना में सहारा लेना पड़ा जिसका फल वही हुआ जो होना चाहिए था। यानी धनिकों का इस उपासना में जहां प्राधान्य बढ़ा, वहीं चोरों और उठाइगीरों को भी प्रलोभन मिला। इन आभूषणों की चमक-दमक दीपावली प्रकाश में ही खुलती है, अतः रात्रि-भक्ति के बहाने मन्दिरों में जगमगाते दीपक ही दीपक जलाए जाने लगे। सामान्य अष्टप्रकारी पूजा की उपासना में अपर्याप्त मान अनेक प्रकार की नई नई पूजाओं का प्रचार हो गया। श्री देसाई 'जैन साहित्यनो इतिहास' में कहते हैं कि "भक्तिमार्ग का उदय सत्तरहवीं सदी में विशेष हुआ। वल्लभी सम्प्रदाय का प्रवेश गुजरात में हो चुका था। भक्ति के असर से एक विशिष्ट साहित्य इस शतक में जैनों में भी उद्भव हुआ। यह पूजा साहित्य है।"[1] धनिकों को वैभव प्रदर्शन के साथ इसके द्वारा परलोक में अधुना देवगति और अन्त में मोक्ष तक का परवाना प्राप्त करने का यह नया साधन उसी प्रकार का मिल

---

1 देसाई 'जैन साहित्यनो इतिहास' पृ० ६०८ पैरे ८६७।

गया जैसा कि एक समय पोप इसाई धनिकों को परवाना बेचा करते थे। अतः अधिक नहीं तो देव-कुलिका में प्रतिमा-प्रतिष्ठापन द्वारा अथवा और उपदेष्टा गुरु का नाम ही वे चिरस्मरणीय करने लगे। तीर्थ और प्रतिमा प्रातःस्तवन माहात्म्य कथाएं भी इसीलिए एक से एक रोचक और अतिरंजित रची जाने लगी। हरिभद्रसूरि की अष्टक में दी गई यह चेतावनी साधुओं और श्रावकों दोनों ने भुला ही दी कि

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्॥

अर्थात् धर्म के लिए पैसा प्राप्त करने की इच्छा करने की अपेक्षा उसकी इच्छा ही नहीं करना श्रेयस्कर है। पैर कीचड़ में सान कर बाद में उन्हें धो कर साफ कर लेने की अपेक्षा यही अच्छा है कि कीचड़ में प्रवेश ही नहीं किया जाए।

मुनिसुन्दरसूरि ने भी 'अध्यात्मकल्पद्रुम' में कहा है कि

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न, धर्मोऽपि सारम्भतयातिशुद्धः।
निःसंगतात्मा त्वतिशुद्धियोगान्मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेऽपि॥

अर्थात् धन के साधन से द्रव्यस्तवस्वरूपवाला धर्म साधा जा सकता है, परन्तु वह आरंभयुक्त होने से अति शुद्ध नहीं है। पक्षान्तर में निःसंगता स्वरूपवाला धर्म अति शुद्ध है और इसी लिए वह उसी भव में भी मोक्षलक्ष्मी प्राप्त करा देता है।

इस प्रकार अरुचिकर होते हुए भी हमारा यह इतिहास सत्य है। घर की बढ़ती हुई फूट और वैदिकों के लगातार संघर्ष में हम हमारे प्रतिपक्षी बौद्धों की भांति इस देश में विलुप्त नहीं हो गए, यह निःसंदेह ही आश्चर्य की बात है। इसका एक कारण हमारे साधुओं का ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत अवश्य ही कहा जा सकता है। परन्तु और भी कई कारण हैं जिन सब का संयुक्त परिणाम हो हम जैनों को जीवनदायी रहा। परन्तु यह एक स्वतंत्र ही विषय है और दीर्घविचारणीय भी जिसके लिए और किसी अवसर का उपयोग किया जाएगा। यदि इन अरुचिकर इतिहास के कुछ पृष्ठों से हम शिक्षा लेंगे तो हम जैनधर्म की एक महती सेवा करेंगे; यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

×●×

शक संवत् और जैन परम्परा

डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ,

वर्तमान मे प्रचलित एकमात्र शक संवत् जिसे पंचाङ्गों में बहुधा शक-शालिवाहन के नाम से उल्लेखित किया जाता है, विक्रम संवत् से १३५ वर्ष परवर्ती है, और जैसा कि हम विक्रम संवत् के विवेचन मे देख चुके हैं,[1] भारतीयजनों में यह विश्वास साधिक एक सहस्त्र वर्षों से चला आ रहा है। अतः जैन अनुश्रुतियाँ एकमत से इस संवत् का प्रवर्त्तन ५२७ ईसापूर्व मे घटित महावीर-निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् निश्चित करती हैं, अतः उसका प्रारंभ सन् ईस्वी ७८ मे हुआ था। वर्तमान में प्रचलित वर्ष-गणना से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सम्पूर्ण दक्षिणापथ मे यह संवत् प्रायः सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है, और वहीं से उसका प्रयोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों एवं राज्यों में प्रसरित हुआ।[2] यदि विक्रम संवत् का आम प्रचलन उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में रहा तो शक संवत् दक्षिण भारतीय कालगणना का सर्वप्रमुख आधार रहा। इन दोनों संवतों के पारस्परिक तथा अन्य ज्ञात घटनाओं एवं तिथियों के साथ जो अनेक समीकरण उपलब्ध हैं, वे सब इस शक संवत् का प्रारंभ सन् ७८ ई० में हुआ होने का सुनिश्चित रूप से समर्थन करते हैं।

यद्यपि इस संवत् के प्रयोग के प्रमाण उसके प्रारंभ काल से ही मिलने लगते हैं, उसके साथ 'शक' नाम का सम्बन्ध लगभग तीन शताब्दियों तक प्राप्त नहीं होता। लोकस्वरूप विषयक प्राकृत जैन ग्रन्थ 'लोकविभाग' की रचना आचार्य सर्वनन्दि ने काञ्ची के पल्लव नरेश सिंहवर्मन के शासनकाल में शक संवत् ३८० में की थी-साहित्य में इस संवत् का और स्वयं अपने नाम से हो, यह सर्वप्राचीन ज्ञात उल्लेख है।[3] शक की छठीं शताब्दी से तो इस संवत् के जैन लेखकों द्वारा तथा कतिपय ब्राह्मण लेखकों विशेषकर ज्योतिर्विदों द्वारा, प्रयोग किए जाने के अनेक उदाहरण प्राप्त होने लगते हैं। जहाँतक शिलालेखों का प्रश्न है, सुराष्ट्र के पश्चिमी शक क्षत्रप, वातापी के पश्चिमी चालुक्य, तलकाड के गंग, काञ्ची के पल्लव वनवासी के कदम्ब, मान्यखेट के राष्ट्रकूट, तथा दक्षिण भारत के अन्य अनेक छोटे-बड़े राजवंश अपने अनगिनत शिलालेखों, ताम्रशासनो आदि में, मध्यकाल के बाद तक भी इस शक संवत् का प्रयोग करते पाये जाते हैं। इस बहु-प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि मात्र 'शक' शब्द ही संवत् या कालगणना का बोधक बन गया, यथा विक्रम शक (विक्रमाङ्क या विक्रमार्क शक), हिजरी शक, ख्रिस्ती (ईसाई) शक, आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ भ्रान्तियां भी उदय में आईं, विशेषकर विक्रम एवं शक संवतों के बीच। कई

बार एक के नाम से दूसरे के प्रयोग के उदाहरण भी पाये जाते हैं।[४] कई मध्यकालीन लेखक यह विश्वास भी करते प्रतीत होते हैं कि संवत् प्रवर्त्तक शक नरेश का नाम विक्रम था।[५]

तक्षशिला, मथुरा आदि से प्राप्त प्रारंभिक शिलालेखों में इस कालगणना का उल्लेख मात्र 'संवत्सर' या 'संवत्' नाम से हुआ है सुराष्ट्र के शिलालेखों में 'वर्ष' नाम से, और उत्तरवर्ती शताब्दियों में, शक, शक, शकनृपसंवत्सर, शकनृपति संवत्सर, शकनृपति-राज्याभिषेक संवत्सर, शकनृपकालातीत संवत्सर, शकेन्द्रकाल, शककाल-संवत्सर, शकसमये, शकाब्द, शकाब्दे, शकसंवत्, शक-शालिवाहन, शालिवाहननिर्णीत-शकवर्ष, इत्यादि नामों से हुआ है।[६]

इस संवत् की उत्पत्ति के विषय में कई मत प्रस्तुत किए गए हैं। आधुनिक विद्वानों में से बहुभाग उसका जनक कुषण सम्राट कनिष्क रहा, बताते हैं। उक्त नरेश एवं उसके कई उत्तराधिकारियों के शिलालेख वर्ष १ से ६८ तक के मिलते हैं, और उनमें उसका उल्लेख मात्र संवत्, संवत्सर या राज्य-संवत्सर के रूप में हुआ है।[७] सामान्यतया कनिष्क का राज्यारंभ ७८ ई० से हुआ माना जाता है,[८] किन्तु कुछ विद्वान उक्त घटना की तिथि १२६ ई० निश्चित करते हैं,[९] तो कुछ उसे काफी पहले ले जाते हैं, और कनिष्क को विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक से अभिन्न सूचित करते हैं।[१०]

शक संवत् का जनक कनिष्क था, इस मत के सर्वप्रमुख प्रस्तोता प्रो० रैप्सन हैं, जिनका कहना है कि शक नरेशों की मुद्राओं एवं अभिलेखों से प्राप्त समस्त तिथियां उस संवत् की है जो ७८ ई० में कनिष्क के शासनारंभ से प्रवर्तित हुआ था। वे तिथियां वर्ष ४१ से ३१० (अर्थात् सन् ईस्वी ११६-३८८) तक की हैं; और प्राचीन भारत के स्मारकों पर उपलब्ध सर्वाधिक अविच्छिन्न एवं पूर्ण कालानुक्रमणिका सूचित करती हैं। पश्चिमी भारत के शक नरेशों द्वारा चिरकालीन प्रयोग के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में वह सामान्यतया शक संवत् के नाम से विख्यात हुआ।[११]

यह मत युक्तियुक्त तो प्रतीत होता है, किन्तु इसमें कई दोष हैं। प्रथम तो, इसका आधार यह सामान्य अनुमान है कि सभी शक नरेशों ने अपने अभिलेखों में, वे चाहें कहीं से भी प्राप्त हुए हों, इसी संवत् का प्रयोग किया है। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि शक लोग कनिष्क के समय से साधिक एक शती पूर्व भारत में आचुके थे और देश के विभिन्न भागों में बस गये थे। अतएव उक्त प्रारंभिक शक सरदारों के, तक्षशिला, मथुरा वाराणसी, सुराष्ट्र आदि के शक क्षत्रपों या क्षहरातों के अभिलेख कनिष्क के संवत् की तिथियों से युक्त नहीं हो सकते। दूसरे, कुषण लोग वस्तुतः शक नहीं, वरन् तुखारी

जाति के थे। यदि शक शब्द को अति स्थूलरूपेण ग्रहण किया जाय तभी उनका समावेश शकों में किया जा सकता है। फिर भी यह तथ्य निर्विवाद रहता है कि कुषाण लोग भारतवर्ष में लगभग १५० वर्ष पूर्व से आकर बसती रहने वाली शक जाति की एक अति उत्तरवर्ती शाखा से सम्बंधित थे। तीसरे, यद्यपि कनिष्क के कुषाण साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से लेकर मथुरा पर्यन्त था, और संभवतया वाराणसी क्षेत्र भी उसमें सम्मिलित था, उत्तरी भारत का बहुभाग उसके बाहर था। इसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत कुषाण साम्राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर था, और यही वे प्रदेश थे जहाँ शक संवत् सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। चौथे, कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारियों ने गणनावर्ष का सूचन सम्वत्सर या राज्य संवत्सर शब्द से किया जब कि प्रारंभिक शक मरदार तथा पश्चिमी भारत के शक नरेश 'वर्ष' शब्द का प्रयोग करते पाये जाते हैं। आधुनिक विद्वानों में से भी कई एक रैप्सन के मत को मान्य नहीं करते—मौरिस विन्टरनित्स का कहना है कि 'कतिपय विद्वानों की अभी भी जो यह धारणा है कि ७८ ई० में प्रारंभ होने वाले शक संवत् का संस्थापक कनिष्क था, उसके सही होने की बहुत कम सम्भावना है।'[12] और स्टेन कोनो का तर्क है कि कनिष्क का पूर्वज विम कडफाइसिस शक संवत् के प्रवर्त्तन के बहुत पीछे तक सिंहासनासीन रहा था, अतएव वह संवत् उसके भी उत्तराधिकारी कनिष्क द्वारा प्रवर्तित नहीं हुआ हो सकता।'[13]

पुरातन लेखकों में अल-बेरुनी (१०३० ई०) एक भिन्न मत का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार "शककाल अर्थात् शक संवत् का समय विक्रम से १३५ वर्ष परवर्ती है। इस शकराज ने आर्यावर्त्त को अपना निवास-स्थान बनाने के पश्चात् सिन्धुनद एवं समुद्र के मध्यवर्ती प्रदेश पर बड़े अत्याचार किए, उसने हिन्दुओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे स्वयं को शक जाती रखें और प्रगट करें। हिन्दुओं को भीषण संकट का सामना करना पड़ा। अन्ततः उन्हें पूर्वदिशा से सहायता प्राप्त हुई जबकि विक्रमादित्य ने शकराज के विरुद्ध चढ़ाई की और मुल्तान एवं लोनीदुर्ग के मध्य स्थित करूर के क्षेत्र में उसे पराजित किया और मार डाला। अत्याचारी के पतन पर लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया और उक्त विजय की तिथि लोकप्रसिद्ध हो गई तथा कालगणना का आधार बन गई, विशेषकर ज्योतिष-शास्त्रियों द्वारा। उन्होंने विजेता के नाम के साथ 'श्री' (श्री विक्रमादित्य) लगाकर उसका सम्मान किया। किन्तु तथाकथित विक्रम संवत् की प्रवृत्ति और शकराज के वध के बीच दीर्घ अन्तराल है, हमारे विचार से शकारि विक्रम संवत् प्रवर्तक विक्रम से भिन्न एवं परवर्ती, उसी नाम का कोई अन्य नरेश था।"[14]

स्पष्ट है कि अल-बेरूनी ने कई विभिन्न अनुश्रुतियों के बीच गड़बड़ घोटाला कर दिया है-अर्थात् ई० पू० ५७ में होने वाले मूल विक्रम तथा चन्द्रगुप्त द्वि० विक्रमादित्य (३७६-४१३ ई०) विषयक अनुश्रुतियों के बीच-यह द्वितीय विक्रम भी शकों का उच्छेद करने के लिए विख्यात है-और असभ्य श्वेत हूणों के संहारकर्त्ता स्कन्दगुप्त क्रमादित्य (४५५-४६७ ई०) अथवा मालव यशोधर्मन (५३२ ई०) के बीच, जिसने सम्भवतया करूर के युद्ध में हूणों को पराभूत किया था। इस दुर्दान्त अत्याचारी शक के वर्णन में उस कल्कि विषयक जैन अनुश्रुति की गूंज सुन पड़ती है, जिसका उदय महावीर-निर्वाण के एक सहस्र वर्ष उपरान्त हुआ बताया जाता है। तथापि, जहाँ तक विक्रम एवं शक संवतों के नाम तथा उनके मध्यवर्ती अन्तराल का प्रश्न है, अल-बेरुनी की बात सर्वथा ठीक है, और उससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि उक्त संवतों का प्रवर्तन क्रमशः ईसापूर्व ५७ और सन् ईस्वी ७८ में हुआ था।

किसी विक्रमादित्य के हाथों शकराज की पराजय एवं वध की घटना से शक संवत् का प्रवर्तन हुआ, ऐसा विश्वास करने वालों में अल-बेरुनी अकेला नहीं है। पूर्वमध्यकाल के कई भारतीय लेखक भी ऐसा ही विश्वास करते प्रतीत होते हैं, और संभवतया अल-बेरुनी के कथन का आधार वे ही रहे।[१५] और उन सबका मूलाधार ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) रहा प्रतीत होता है; जिसने 'कलियुग के ३१७९ वर्ष बीतने पर शक का अन्त हुआ, यह कथन करने में 'शकान्तेऽब्दा,' शकनृपान्ते' जैसे शब्द प्रयुक्त किये थे।[१६] किन्तु, इन शब्दों का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'शकों के समय तक'। कम से कम, स्वयं अपना समय सूचित करते हुए ब्रह्मगुप्त 'अन्ते' उपपद का प्रयोग नहीं करता, अपितु सीधे-सीधे कहता है कि 'शकराज के ५५० वर्ष बीतने पर उसने अपना ग्रन्थ पूर्ण किया है।'[१७] हां' भास्कराचार्य (लगभग ६०० ई०), उदान (६७४ ई०) आदि विद्वानों ने ब्रह्मगुप्त के 'शकान्तेऽब्दा:' पद को 'शकनृपस्यान्ते' कर दिया।[१८] जैन ग्रन्थकारों में ऐसे, अर्थात् 'शकनृपकालातीत संवत्सर' जैसे पदप्रयोग करने वाले सर्वप्रथम विद्वान् आचार्य सोमदेव (९५९ ई०) रहे प्रतीत होते हैं।[१९] किन्तु, जैसा कि डा० दिनेश चन्द्र सरकार का कहना है, इन शब्दों से यह सुनिश्चित ध्वनि नहीं निकलती कि वह संवत् शक की मृत्यु से प्रवर्तित हुआ, बल्कि उससे यह अर्थ भी उतना ही संगत है कि नृप राज्य वर्ष के स्थान में यहाँ शक संवत् के गताब्द अभिप्रेत हैं।[२०] वस्तुतः किसी भी पूर्वकालीन अभिलेख या अनुश्रुति से उक्त संवत् का शकराज की मृत्यु से प्रारंभ होने का समर्थन नहीं होता। वराहमिहिर (५०५ ई०) ने 'शकेन्द्रकाल' पद का प्रयोग किया है, और बटेश्वर (७८० ई०) ने भी

उसी का अनुकरण किया।[२१] श० सं० ४३५ के एक शिलालेख में 'शकनृपति संवत्सर' पद प्रयुक्त हुआ है,[२२] और श० सं० ४०० के एक लेख में 'शकनृपतिराज्याभिषेक संवत्सर'।[२३] जैन अनुश्रुति तो प्रायः एकमत से इस संवत् का प्रवर्त्तन शकों अथवा शकराज के राज्यारंभ से हुआ सूचित करती है। वह इस विषय में असंदिग्ध है कि शकों ने एक बार पुनः अधिकार प्राप्त किया, दोबारा मालवा की विजय की और प्रचलित विक्रम संवत् को निरस्त करने के लिए अपना नया संवत् चलाया। एक स्रोत तो स्पष्टतया उल्लेख करता है कि उपर्युक्त कथन का अभिप्राय ही प्रचलित शक संवत् की उत्पत्ति सम्बंधी सूचना प्रदान करना है।[२४]

अस्तु, शक संवत् शकराज की मृत्यु से प्रारंभ हुआ, इसमत में कोई दम नहीं है। किसी विक्रमादित्य को भी इसके प्रवर्त्तन का श्रेय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रथम शती ईस्वी के अन्तिम पाद में होनेवाले किसी भारतीय नरेश अथवा शक सरदार या राजा के विक्रमादित्य नामधारी होने का कोई भी साक्ष्य नहीं है।

'शालिवाहन' का सम्बंध भी इस संवत् के साथ ११ वीं शती ई० के बाद ही उल्लेखित हुआ पाया जाता है—सन् १०५६ ई० का एक शिलालेख ही इस प्रकार का कथन सर्वप्रथम करता प्रतीत होता है।[२५] उसके पूर्ववर्ती किसी भी अनश्रुति अथवा साहित्यिक या अभिलेखीय साक्ष्य से उसका समर्थन नहीं होता। कतिपय विद्वानों ने यह सुझाने का प्रयास किया है कि उक्त शालिवाहन कोई सातवाहन नरेश, और संभवतया प्राकृत गाथा-सप्तशती के कर्ता हाल से अभिन्न रहा हो सकता है।[२६] किन्तु यह एक कल्पनामूलक अनुमान मात्र है, इसका अन्य कोई आधार नहीं है। किसी भी सातवाहन वंशी नरेश का नाम शालिवाहन रहा नहीं पाया जाता, और उक्त सतसई के रचयिता की ऐतिहासिकता अथवा तिथि भी अनिश्चित एवं अज्ञात है। इसमें सन्देह नहीं है कि पैठन के सातवाहन नरेश सत्ता-संघर्ष में नहपान, उपवदात आदि शक क्षहरातों और चष्टनवंशी पश्चिमी क्षत्रपों के प्रबल प्रतिद्वन्दी थे। यह विश्वास किया जाता है कि गौतमी पुत्र शातकर्णि ने नहपान के साथ अनेक भीषण युद्ध किये थे, और उसीप्रकार वसिष्ठिपुत्र पुलुमावी ने चष्टन और रुद्रदामन के साथ किये थे। यह सर्वथा संभव है कि इन संघर्षों का मुख्य आधार उज्जयिनी थी। दोनों ही शक्तियाँ उक्त महानगरी को अपने-अपने अधिकार में रखना चाहती थी। कभी एक विजयी रहती तो कभी दूसरी। ईस्वी सन् ७८ का वर्ष उक्त महानगरी के भाग्य का निर्णायक था जबकि उसपर शकों ने अधिकार कर लिया, तथा तदनन्तर सातवाहनों ने भी आंशिक विजय प्राप्त कर ली। इस वंश के राजे अपने शत्रुओं के सम्मान को हस्तगत करने व अपनाने में

निष्णात रहे प्रतीत होते हैं । गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान को पराजित करके उसकी मुद्राओं को अपनाकर चला दिया था।[२] शक संवत् १३८६ का एक शिलालेख तो 'शालिवाहन-निर्णीत शकवर्ष क्रमागत के रूप में इस संवत् का वर्णन करता है,[२८] जिससे स्पष्टतः ध्वनित होता है कि शालिवाहन ने उक्त शक संवत् के साथ कोई कारगुजारी की थी। इस कथन में कुछ सत्य निहित हो सकता है, और संभवतया उसकी समर्थक कोई अनुश्रुति प्राचीन काल से ही प्रचलित रहती आयी हो। तथापि यह भी तथ्य है कि उक्त अभिलेख के अतिरिक्त उसका समर्थक अन्य कोई साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। यह भी ध्यातव्य है कि सातवाहनों के अभिलेखों तथा मुद्राओं पर किसी भी संवत का अंकन नहीं प्राप्त होता, केवल उक्त वंश के पृथक्-पृथक् नरेशों के राज्यवर्ष ही अंकित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नोक्त निष्कर्ष फलित होते हैं—यह कि प्रचलित शक संवत् सन् ७८ ई में प्रवर्तित हुआ; इसकी उत्पत्ति का संबंध मूलतः उज्जयिनी से है, यह एक धार्मिक नहीं वरन् लौकिक संवत् है, और अधिकांश लौकिक संवतों की भांति किसी महत्त्वपूर्ण नरेश के, संभवतया उज्जयिनी में, सिंहासनारोहण, राज्यारंभ या स्मरणीय विजय से उसका प्रारंभ हुआ होना चाहिए; यह कि यह नरेश कोई महत्त्वपूर्ण शक सरदार या राजा था; यह कि उसका नाम विक्रमादित्य नहीं था; और यह कि उत्तर-पश्चिमी भारत के कुषण सम्राट् कनिष्क, अथवा किसी तत्कालीक सातवाहन राजा, या अन्य किसी भी भारतीय नरेश का इस संवत् की स्थापना के साथ प्रायः कोई सम्बंध नहीं है।[२९] तब फिर उसका प्रवर्त्तक कौन था, यह प्रश्न बना रहता है। इस विषय में भी जैन स्रोत: ही सर्वाधिक सहायक सिद्ध होते हैं।

यति वृषभाचार्य द्वारा मूलतः १७६ ई० में रचित प्राकृतग्रन्थ तिलोयपण्णति में स्पष्ट उल्लेख है कि गधर्वो या गर्दभिल्लों ने १०० वर्ष शासन किया था, जिसके उपरान्त नहपान ने ४० वर्ष राज्य किया और तदनन्तर भच्चट्टणाण ने २४२ वर्ष पर्यन्त शासन किया। उसके उपरान्त गुप्तवंशी नरेशों ने २३१ वर्ष तक राज्य किया।[३०] जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं, गर्दभिल्ल का राज्यारंभ ईसापूर्व ७४ में हुआ था और वह १३ वर्ष (ई० पू० ७४–६१) चला, जिसके अन्तिम चार वर्ष शकों के साथ भीषण युद्ध में व्यतीत हुए, और तदनन्तर अगले चार वर्ष तक उज्जयिनी पर शकों का ही एकाधिकार रहा था। अन्ततः ईसापूर्व ५७ में वे इस प्रदेश से निकाल बाहर कर दिये गये थे।[३१] इस प्रकार गर्दभिल्ल का वंश, जिसमें विक्रमादित्य एवं उसके उत्तराधिकारी समाविष्ट हैं, ईसापूर्व ७४ से ईस्वी २६ पर्यन्त, और यदि चतुर् वर्षीय शकयुद्ध का काल तथा शक शासन के चार वर्ष उसमें से निकाल दिये जांय तो वहां सन् ३० या ३४ ई० तक चला माना जा सकता है। अतः

नहपान के राज्यकाल की पूर्वावधि एवं उत्तरावधि क्रमशः ईस्वी २६ और ७५ फलित होती है। कई आधुनिक विद्वान् भी सुराष्ट्र के उक्त प्रसिद्ध क्षहरात नरेश (नहपान) का प्रायः यही समय निर्धारित करते है :[32] विचित्र संयोग है कि पूर्वोक्त प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति के अनुसार नहपान के पश्चात् जिस वंश का शासनाधिकार हुआ उसका नाम 'भच्चट्ठणाण' था—मुद्रित संस्करण में 'भत्थट्ठणाण' पाठ है।[33] स्व० डा० हीरालाल सूद ने उक्त गाथाओं की टीका करते हुए यह अनुमान व्यक्त किया था कि संभवतया भच्चट्ठणाण से आशय भृत्यान्ध्र या आन्ध्रभृत्य से है।[34] किन्तु जैसा कि श्री सत्यश्रावने ठीक ही कहा है, प्राकृत भाषाविज्ञान के किसी भी नियम से विवक्षित शब्द का रूपान्तर भृत्यान्ध्र या आन्ध्रभृत्य नहीं हो सकता, अतएव मूल प्राकृत शब्द का उक्त संस्कृत रूप सर्वथा असिद्ध है, केवल कष्टकल्पना मात्र है।[35] वस्तुतः उसका सरल एवं यथार्थ संस्कृत रूप 'भद्रचष्टनाः' या 'भृत्यचष्टनाः' ही हो सकता है। शक क्षत्रप चष्टन के सिक्कों पर भी खरोष्ठी लिपि मे 'चठनस' नाम अंकित पाया जाता है। अत. सं० भद्रचष्टन प्राकृत मे भच्चट्ठण होगा और बहुवचन में भच्चट्ठणाण। इसी प्रकार भृत्यचष्टनाः का रूप भत्थट्ठणाण होगा। इन चष्टनवंशी पश्चिमी शकक्षत्रपो के अभिलेखों मे उनके नाम के पूर्व बहुधा 'भद्रमुख' विशेषण प्राप्त होता है।[36] इस प्रकार उक्तवंश की 'भद्रचष्टन' संज्ञा सार्थक एवं सर्वथा उपयुक्त है[37] कुषाणों के विपरीत, यह वंश शुद्धतया शक था। तिलोयपण्णत्ति बीर गाथा १५०८ को गा० १५०३-१५०४ के साथ पढ़ने से इस विषय मे कोई संदेह नहीं रहता कि भच्चट्ठणाण शब्द मे शक ही अभिप्रेत हैं, अन्य कोई राज्यवंश या जाति नहीं। सब से बड़ी बात यह है कि इस ग्रन्थ में जो कि ईस्वीसन् की प्राथमिक शताब्दियों के इतिहास के लिए समसामयिक साक्ष्य का महत्त्व रखता है, हमें चष्टन नाम का प्राचीनतम स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। चष्टन और उसके निकट उत्तराधिकारी सातवाहनों क प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहे थे, यह तथ्य सर्वमान्य है, और यद्यपि वह शकवंश चन्द्रगुप्त द्वि० विक्रमादित्य के समय तक चलता रहा जान पड़ता है वह ३२० ई० में गुप्तवंश के उदय के तुरन्त उपरान्त ही द्रुतवेग से अस्त होने लगा था। तिलोयपण्णत्ति ने उक्त भद्रचष्टन वंशी नरेशों का शासनकाल २४२ वर्ष सूचित किया है, और क्योंकि ७८ ई० में उसका उदय हुआ था, ३२० ई० में उसका अस्त बताना उचित ही है। उक्त ग्रन्थ के अनुसार भद्रचष्टनों के उपरान्त गुप्तनरेशों ने २३१ वर्ष पर्यन्त शासन किया, और यह तथ्य इतिहास सिद्ध है कि गुप्तों का शासन, पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती दोनों ही शाखाओं को सम्मिलित करके, ५५० ई० के उपरान्त नहीं चला। देवगुप्त द्वि० का प्रायः यही समय है। यह नरेश तथा उसका संभवतया पितृव्य हरिगुप्त, दोनों अन्ततः जैन साधु बन गये थे। उद्योतनसूरि को

कुवलयमाला (७७८ ई०) के कथनानुसार तो उक्त जैन मुनि राजर्षि हरिगुप्त हूणनरेश तोरमाण के समकालीन थे और उसके द्वारा गुरुरूप में सम्मानित हुए थे।

अस्तु, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि प्रचलित शक संवत् का प्रवर्तन महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् जैन अनुश्रुति के उस द्वितीय शकराज द्वारा सन् ७८ ई० में हुआ था जिसे भद्रचष्टनों अर्थात् पश्चिमी क्षत्रपों के चष्टन वंश की स्थापना और उनकी शक्ति के उदय का श्रेय है। ऐसा प्रतीत होता है कि चष्टन का पूर्वज घसोमतिक (यसोमतिक), और शायद स्वयं चष्टन भी, मूलतः शक क्षहरात नहपान की सेवा में निरत उसके सामन्त या अधिकारी थे, और उस नरेश के निधन, या राज्य-समाप्ति के पश्चात् स्वतन्त्र हो गये और स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो गये।[38] सन् ७८ ई० का वर्ष उसके भाग्य का निर्णायक था, जब उसने चैत्र मास के मध्य के लगभग उज्जयिनी की विजय करके इस सुप्रतिष्ठित महाराजधानी पर अपनी सत्ता स्थापित करली थी, और उस खुशी मे संवत्-प्रवर्तन किया था। उसका सर्वोपरि प्रतिद्वन्द्वी सातवाहन नरेश, संभवतया वशिष्ठी पुत्र पुलुमावी था जो चष्टन की उक्त विजय को सहन नहीं कर सका और उससे पुनः युद्ध छेड़ दिया। संभव है, उसी वर्ष या कुछ काल पश्चात् सातवाहन नरेश ने शक क्षत्रप के विरुद्ध कोई आंशिक सफलता भी प्राप्त करली हो, और फलस्वरूप उसके संवत् को भी अपना बना लेने का प्रयत्न किया हो, जिसमें वह विशेष सफल नहीं हुआ। यह भी संभव है कि सन् ७८ ई० के लगभग ही उत्तरी भारत में, पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाकर कनिष्क ने अपने कुषाण साम्राज्य की स्थापना की हो, लगता ऐसा ही है। स्वयं जैन परम्परा के इतिहास में यह एक अत्यन्त क्रान्तिकारी समय था जब जैन संघ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों मे विभक्त हो गया। अतएव जैन लेखक उक्त वर्ष को विस्मरण कैसे कर सकते थे।

पाद टिप्पणि

१ देखिए-जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २६ कि० २, पृ० २

२ डा० बी० आर० चटर्जी-इंडियन कल्चरल इनफ्लुएन्स इन कम्बोडिया, कलकत्ता १६२८)

३ यतिवृषभ (लगभग १७६ ई०) सर्वप्रथम जैन लेखक हैं जिन्होंने अपनी तिलोयपण्णति में इस संवत् का विवेचन किया है।

४ देखें-सत्यश्राव-शकाज इन इंडिया, पृ० १६-३७

५ त्रिलोकसार की टीका में माधवचन्द्र इसे 'विक्रमाकशक' कहते हैं, और उसके हिन्दी टीकाकार पं० टोडरमल उसकी व्याख्या ' क्रम नाम का शकराजा' करते हैं।

६ फ्लीट-इन्डियन एन्टीक्वेरी, भा० १२, पृ० २०७-२१५

७ देखें-एपी० इन्डिया, भा० १० (उत्तरी शि० ले०), का परिशिष्ट

८ कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इन्डिया, भा० १, पृ० ५८३

९ स्टेन कोनो-सी० आई० आई०, जिल्द २ भा० १ पृ० ६८-इस ७८ ई० के संवत् का प्रवर्तक कनिष्क के पूर्वज विम कडफाइसिस को रहा बताते है।

१० देखें फलीट-जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ९९४-९९८

११ कैम्ब्रिज हिस्टरी, भा० १, पृ० ५८५

१२ हिस्टरी आफ इन्डियन लिटरेचर, भा० २, पृ० ६११

१३ सी० आई० आई०, भा० १, पृ० ६८

१४ ई० सी० सचाऊ-अलबेरूनीज इन्डिया (लंदन १९१४), भा० २, पृ० ४९

१५ खंडखाद्यक की आमराज (११८० ई०) कृत वासनाभाष्य टीका (कलकत्ता १९२५, पृ० २ —

'शकानाम् म्लेच्छाराजानस्ते यस्मिन्काले विक्रमादित्येन व्यापादिता स शकसम्बन्धीकालः शाकइत्युच्यते'। तथा उसी ग्रन्थ पर पृथूदकस्व मी (ल० ८६४ ई०) की टीका (कलकत्ता १९४२ पृ० ३) और वराहमिहिर की बृहत्संहिता के श्लोक ८।२० की भट्ट उत्पलकृत टीका :

१६ 'त्रीणि कृतादीनि कलेर्गतेगेक गुणाः शकान्तेऽब्दाः'-ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, १।२६ तथा २७

१७ 'शकनृपाणा पञ्चशतसंयुक्तेर्वर्षशते. पञ्चभिरतीतैः,-वही।

१८ देखिए-शकाज इन इंडिया, पृ० ४२-४४

१९ देखिए-यशस्तिलकचम्पू की प्रशस्ति।

२० प्रोसीडिंग्स, इन्डियन हिस्टरी कांग्रेस (लाहोर पृ० ५३

२१ पञ्चसिद्धान्तिका, पृ० ३१ श्लो० २ (लाहोर सं०); बृहत्संहिता, ८।२०

२२ इ० डि० एन्टी, भा० ६, पृ० ७३

२३ एपी० इन्डि०, भा० ७, परिशिष्ट, पृ० २, न० ३

२४ ज्यो० प्र० जैन-जैनसोर्सेज आव दी हिस्टरी आव एन्शेन्ट इन्डिया, पृ० ४६, ४७ व ६३ के फुटनोट। तक हमारा लेख ' क संवत् और जैन परंपरा', जै० सि० भा० २९ कि० २, व भा० ३० कि० १

२५ 'नवमत एकाधीनि सकृतन शालिवाहन न नृपतीस'-एपी० इंडि०, भा० १९, पृ० २२; ३, भा० के शि० ले० न० १३४

२६ मुनीश्वर कृत सिद्धान्त सार्वभौम, भा० १, पृ २३, बनारस सं०)

२७ गौतमीपुत्र शातकर्णि की नासिक प्रशस्ति, तथा प्रोसीडिंग्स ३ हि० कां० (नागपुर १६५०), पृ० ३८-३६

२८ विरुपाक्ष का सोभलपुरम्, दानपत्र, एपी० इंडि०, भा० १६, पृ० १६६

२६ डा० जायसवाल के अनुसार 'भारतीय अनुश्रुति में ७८ ई० के संवत् का सम्बंध उज्जैन से है' (जं० बी० ओ० आर० एस०, जि० १६, भा० ३-४, पृ० २३२); रा० दा० बनर्जी-'शकसंवत् की उत्पत्ति पश्चिमी भारत में हुई थी' (इंडि० एन्टी, भा० ३७, पृ० ५१), प्रो० टार्न के अनुसार 'सन् ७८ ई० का शक संवत् भी मालव संवत् ही था और वह पश्चिमी शक क्षत्रपों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा उज्जयिनी का पुनः अधिकृत होने के उपलक्ष्य में चलाया गया था' (ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एन्ड इन्डिया, पृ० ३३५)

३० तिलोयपण्णत्ति (शोलापुर सं० अ० ४, गा० १५०७—१५०८ हीरवंश एवं त्रिलोकसार में उन्हीं के आधार सम्मत है।

३१ देखें-जैन सोर्सेज. पृ० ६३ फुटनोट, तथा उसी ग्रन्थ का अध्याय ४,

३२ देखें-'दी डेट आफ नहपान' (प्रोसीडिंग्स ३० हि० का, नागपुर १९५०, पृ० ३५-४२) जहाँ डा० आलेकर ने उसका समय ५५ ई० के लगभग निर्धारित किया है।

३३ भच्चट्ठणाणा अलो दोण्णि मयाई हवंति वादाला। तत्तो गुनानाणां रज्जे दोण्णिय सयाणि इगितीसा-ति० प० ४,१५०८

३४ सी० पी० और बरार के स० व प्रा० ग्रन्थों की सूची, न० ६४. ६८ पृ० १६-इसी के आधार पर ति० प० के वर्तमान संपादकों ने इस शब्द का अनुवाद 'भृत्यान्ध्र' कर दिया है।

३५ शकाज इन इन्डिया, पृ० १६

३६ रुद्रसेन का गोधा-स्त अभिलेख जिसमें उसने अपने पूर्वजों के नाम के साथ यह विशेषण दिया है, यथा-'राजन् महाक्षत्रप भद्रमुख स्वामी चष्टन', इत्यादि (एपी० इंडि०, भा० १०, परिशिष्ट २-मदर्न इन्सक्रिप्शन्स न० ६६२, तथा ६६७ भी)

३७ यह ध्यातव्य है कि उस समय तक पश्चिमी भारत के इन शकक्षत्रपों का भाषा, धर्म आचार विचार, रीति-रिवाज आदि की दृष्टि से पूर्णतया भारतीय-करण हो चुका था। वे अब विदेशी भी नहीं समझे जाते थे, और जैसा कि रुद्रदामन की जूनागढ़ प्रशस्ति (वही न० ६६५) से स्पष्ट है, वे उदाराशय सुशासक थे और ज्ञान एवं कला के प्रश्रयदाता थे।

३८ मूलतः नहपान के भृत्य रहे होने के कारण उनका 'भृत्य-चष्टन' नाम भी सार्थक है। किन्तु मूलरूप 'भद्रचष्टन' होने की ही सर्वाधिक सम्भावना है। वह सर्वथा संगत एवं उपयुक्त है।

× ● ✳

साहित्य-समीक्षा

पूर्णार्घ्य—संपादिका एवं प्रकाशिका पंडिता सुमति बाई शहा, बी० एस० विद्यापीठ ट्रस्ट, श्राविका संस्थानगर, सोलापुर, वी० नि० सं० २५०४, सजिल्द पृष्ठ सं० ८३२, मूल्य २५ रु० ।

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, समाज सेविका, बालब्रह्मचारिणी, सुलेखिका विदुषी पंडिता सुमति बाई शहा ने अपना यह सुन्दर बृहदाकार 'पूर्णार्घ्य' अपरनाम 'जैन ज्ञान कोश' समाज को भेंट करके, विशेषकर मराठीभाषाभाषी जनों पर महती कृपा की है । इस कृति को सत्य ही महाराष्ट्र-शासन को गौरवान्वित करने वाला महाग्रन्थ' कहा गया है । पं० जिनदास शास्त्री फडकुले तो इसे 'न भूतो न भविष्यति' कहते हैं, और डा० ए० एन० उपाध्ये उसे 'मराठीभाषा का एक महत्त्वपूर्ण एवं अनमोल ग्रन्थ' ठहराते है । पंडिता जी ने इस महाग्रन्थ में सरल भाषा एवं प्रवाहपूर्ण शैली में जैन परम्परा के इतिहास, धर्म, दर्शन एवं विविध साहित्य का प्रभूत परिचय करा दिया है । निश्चय ही इसकी रचना में उन्होंने वर्षों अथक परिश्रम किया है, अनेक विद्वानों से सम्पर्क करके सामग्री प्राप्त की, विपुल साहित्य का अध्ययन किया, और फिर उन सबको अपने ढंग से सजो दिया है । यह महाग्रन्थ निर्वाणोत्सव का ही उत्तम स्मारक नहीं है, वरन् पंडिता जी की भी परम उपलब्धि एवं अमर स्मारक रहेगा । ग्रन्थ संग्रहणीय है, मराठी भाषा जानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को तो अवश्य पढना चाहिए । मूल्य भी अत्यल्प है ।

जैन साहित्य का इतिहास—द्वितीय भाग-लेखक-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन वाराणसी, १९७६, पृष्ठ संख्या ३९६, सजिल्द, मूल्य २० रु० ।

सुप्रतिष्ठित साहित्यमनीषी सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने जैन साहित्य के इतिहास के इस द्वितीय भाग में क्रमशः भूगोल-खगोल एवं द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य, अध्यात्म विषयक टीका साहित्य, तत्त्वार्थविषयक मूल साहित्य तथा तत्त्वार्थविषयक टीका साहित्य का विशद एवं प्रामाणिक विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से किया है । इसके पूर्व प्रथम भाग में वह कर्म-सिद्धान्त विषयक साहित्य का इतिहास दे चुके हैं और उसमें भी पूर्व-पीठिका भाग में जैन साहित्य और उसके इतिहास की पीठिका पर विशद प्रकाश डाल चुके हैं । जैन साहित्य के अध्येताओं के लिए श्री पंडितजी द्वारा रचित उक्त तीनों भाग अनिवार्य हैं । इस उत्तम एव उपयोगी प्रकाशन के लिए लेखक एवं प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है ।

जैन तत्त्वमीमांसा—लेखक-संपादक-पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक-अशोक प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, द्वि० सं० १९७८, सजिल्द पृ० सं० ४२२, मूल्य ६ रु०

गंभीर चिन्तक एवं शास्त्रमर्मज्ञ सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री की १९६० में प्रकाशित बहुचर्चित पुस्तक का पर्याप्त परिवर्तित एवं परिवर्द्धित यह संस्करण पठनीय एवं विचारोत्तेजक है। जैन दृष्टि से तत्त्व की यह उत्तम मीमांसा १२ प्रासंगिक प्रकरणों के माध्यम से की गई है और अन्त में परिशिष्ट रूप से भैया भगवती दास कृत 'उपादान-निमित्त संवाद' सानुवाद दे दिया गया है। इस तत्त्वमीमांसा के कई कथन या प्रतिपादन विद्वानों में विवाद के विषय रहे हैं, और शायद रहेंगे भी, तथापि जिस दृष्टि से और जिस शैली में यह विवेचन किया गया गया है, उसे भी तटस्थभाव से समझने की आवश्यकता है। यह एक वयोवृद्ध विद्वान् के प्रौढ़ अध्ययन, मनन और चिन्तन का सार है।

रत्नचूडरास संपा० डा० एच० सी० भायाणी, प्रकाशक-ला० द० प्राच्यविद्या मंदिर अहमदाबाद, १९७७, पृ० सं० ५५, मूल्य ४ रु० २० पै०।

१५ वीं शती की पुरानी गुजराती भाषा में छन्दोबद्ध एवं रत्नसूरि-शिष्य रचित इस दृष्टान्त कथायुक्त रोचक रास का उपयोगी परिशिष्टों एवं विद्वत्तापूर्ण गुजराती भूमिका सहित सुसम्पादित पाठ प्रस्तुत करके डा० भायाणी ने, तथा उसका उपयुक्त प्रकाशन करके उक्त प्राच्यविद्या मन्दिर ने सराहनीय कार्य किया है। रत्नचूड की कथा जैन परम्परा के लोककथा-साहित्य में एक बहुप्रिय आख्यायिका रही है।

प्रद्युम्नकुमार चोपई—संपा० महेन्द्र बी० शाह, प्र०-ला० द० प्राच्य विद्यामंदिर अहमदाबाद, १९७८, पृ० सं० ९३, मूल्य ८ रु० ६० पै०।

स० १६२६ में वीरम गाम निकटवर्ती मांडल में वाचक कमल शेखर द्वारा रचित और छः सर्गों में पूर्ण इस पुरानी हिन्दी-गुजराती काव्यकृति में नारायण कृष्ण के चरमशरीरी पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित्र वर्णित है। यह रचना प्रथम बार प्रकाशित हुई है। विद्वान् संपादक ने ८९ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत गुजराती भूमिका में इस काव्य के स्वरूप, भाषा, शैली, कथानक, रचयिता, पांडुलिपियाँ आदि प्रायः समस्त पक्षों पर उत्तम प्रकाश डाला है। कवि स्वयं इस रचना को प्रारंभ में 'रास' और अन्त में 'चौपई' संज्ञा देता है। भूमिका के उपरान्त काव्य का सुसम्पादित पाठ है, जिसकी भाषा सरल सुबोध एवं गठी हुई है। दो परिशिष्टों में कवि की दो लघुकृतियाँ, 'नवतत्त्व चोपाई' तथा 'सामायिके बत्रीश दोषनो भास' क्रमशः दे दी गई हैं। अन्त में काव्यगत महत्त्वपूर्ण शब्दों की सार्थ सूची है। पुस्तक शोध-खोज पूर्ण है। संपादक एवं प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

शृंगार मञ्जरी—संपा० कनुभाई बी० शेठ, प्र० ला० द० प्राच्यविद्या मंदिर अहमदाबाद, १९७८, पृ० स० २३२, मूल्य ३० रु० ।

१६ वीं शती ई० में रचित प्रा० जयवन्तसूरि विरचित शृंगार मंजरी अमरनाथ शीलवती चरित्र रास कवि की सर्वोत्तम रचना मानी जाती है और मध्यकालीन जैन गुर्जर साहित्य के सर्वोत्तम काव्यों में उसकी गणना की जाती है। इस काव्यमयी लोककथा में भाषा, साहित्य, समाज एवं संस्कृति-विषयक भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। प्रारंभ में विद्वान् सम्पादक की शोध-खोज पूर्ण ६४ पृष्ठीय गुजराती प्रस्तावना जिसमें है इस काव्य से सम्बंधित प्रायः सभी अंगों का समीचीन विवेचन किया गया है। काव्य के सुसम्पादित पाठ के अनन्तर नोट्स हैं जिनमें पाठान्तरों का निर्देश है। अन्त में शब्दकोश है तथा काव्यगत उक्तियों, कहावतों एवं रूढप्रयोगों की सूची है। संस्करण उत्तम है और परिश्रम पूर्वक तैयार किया गया है।

न्याय मञ्जरी—संपा० अनु० डा० नगीन जे० शाह, प्र०-ला० द० प्राच्य विद्यामन्दिर अहमदाबाद, १९७८, पृष्ठ सं० १८६, मूल्य २० रू० ।

नवमी शती के उत्तरार्ध में हुए ब्राह्मण नैयायिक जयन्तभट्ट द्वारा गौतमीय न्यायसूत्र पर रचित जयन्तमञ्जरी टीका भारतीय न्यायशास्त्र का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसके द्वितीय आह्निक का मूलपाठ सहित विशद् गुजराती अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकरण में प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान नामक तीन प्रमाणों का निरूपण किया गया है। प्रारंभ में सम्पादक का संक्षिप्त प्रास्ताविक निवेदन है। दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए पुस्तक उपयोगी है।

विशेषावश्यक भाष्य, प्रथम भाग—संपा० डा० नथमल टाटिया, प्रकाशक-प्राकृत, जैनविद्या एवं अहिंसा शोध संस्थान वैशाली, १९७२, पृ० सं० ४२१,

श्वेताम्बर आगम आवश्यकसूत्र की छठी शताब्दी में हुए आचार्य भद्रबाहु द्वितीय कृत निर्युक्ति का यह सुप्रसिद्ध विशेषावश्यक भाष्य ७ वीं शती ई० के प्रारंभ के लगभग हुए आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना है जो उक्त आगमिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। निर्युक्ति और भाष्य प्राकृत गाथाओं में निबद्ध हैं और उनके साथ भाष्य की कोट्याचार्य विरचित संस्कृत विवृति या टीका भी प्रस्तुत संस्करण में दे दी गई है। प्रस्तुत भाग में ४४४ निर्युक्ति गाथाओं और २०८० भाष्य गाथाओं का टीकासह सम्पादन हुआ है। ग्रन्थ का शेषांश (उत्तरार्ध) तथा आलोचनात्मक प्रस्तावना दूसरे भाग में प्रकाशित करने की बात है। आगम साहित्य के विशिष्ट अध्येता डा० नथमल टाटिया ने उक्त शोधसंस्थान के निदेशक पद पर कार्य करते हुए श्रमपूर्वक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का

सम्पादन किया है। साथ में यदि भाषानुवाद भी देदिया जाता तो संस्करण की उपयोगिता बढ़ जाती।

द्रव्यपरीक्षा और धातूत्पत्ति लेखक-ठक्कर फेरु, संपादक-श्री भंवरलाल नाहटा' प्रका० वैशाली शोधसंस्थान, १९७६, पृ० सं० ६०, मूल्य ३ रु० ५० पै०।

इन दोनों रचनाओं के लेखक ठक्कर जैसे जैन धर्मावलम्बी थे और दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खलजी (१२९६-१३१६ ई०) के टकसाल-अधिकारी थे। वह अच्छे विज्ञानवेत्ता और वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रणेता थे। रत्नपरीक्षा, द्रव्यपरीक्षा, धातूत्पत्ति, ज्योतिषसार, गणितसार, वास्तुसार और खरतरगच्छ चतुष्पदिका-उनकी सात ज्ञात एवं उपलब्ध रचनाएँ हैं। द्रव्य परीक्षा में सोना, चांदी, सीसा आदि धातुओं को पकाने एवं शुद्ध करने की विधियाँ तथा स्वर्ण, रजत, ताम्र द्विधातु, त्रिधातु आदि पूर्वकालीन और तत्समय में प्रचलित अनेक सिक्कों, मुद्राओं आदि के स्वरूप, मान आदि का वर्णन किया है। इस विषय की यह अभूतपूर्व रचना है। द्वितीय पुस्तिका धातूत्पत्ति में अनेक धातुओं, कई महत्त्वपूर्ण खनिजों तथा कपूर, चन्दन, कस्तूरी, कुंकुम, शंख, रुद्राक्ष आदि कई उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति, स्वरूप, गुणधर्म आदि पर प्रकाश डाला है। मूल रचनाएं अपभ्रंश भाषा में हैं। खोजी विद्वान् श्री भंवरलाल नाहटा ने मूल पुस्तिका-द्वय के इस संयुक्त संस्करण में पाठका शोधन, संपादन, भाषानुवाद, आवश्यक टिप्पण आदि तथा उपयोगी भूमिका देकर प्रशंसनीय एवं उपयोगी कार्य किया है, जिसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं।

रूपक समग्र—रचयिता-श्री जैनेन्द्र किशोर 'जौहरी'; प्रका० जैनेन्द्र प्रकाशन, जैनेन्द्र भवन, आरा, १९६८, पृ० सं० ३२०, मूल्य १ रु० २५ पै०।

कविवर बाबू जैनेन्द्र किशोर जौहर' (१८७१-१९०९ ई०), बिहार राज्य के आरानगर के स्वर्णयुग की देन थे। अपने कृतित्व से उन्होंने उक्त नगर को गौरवान्वित कर दिया। एक सम्पन्न जमींदार कुल में उत्पन्न हुए और मात्र ३८ वर्ष की आयु प्राप्त की तथापि अपनी साहित्यरसिकता साहित्यकारिता, कवित्व और जैन-प्रेम की ऐसी छाप छोड़ गये कि एक प्रकार से अमरत्वप्राप्त कर लिया। वह कवि, शायर, उपन्यासकार, नाटक एवं प्रहसनकार, कहानीकार, संगीतज्ञ, इत्यादि बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी २१ रचनाएं प्रकाशित हैं और २४ अभी भी अप्रकाशित हैं। प्रकाशित रचनाओं में से भी कई शायद उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत संग्रह में उनकी कलिकौतुक, मनोरमा सुन्दरी, अंजना सती नाटक, श्रीपाल चरित्र नाटक, प्रद्युम्न प्रभाव, सोमावती प्रहसन और ज्ञान प्रभाकर प्रहसन-सात रूपकों, नाटकों प्रहसनों आदि का प्रकाशन किया गया है। और इसका श्रेय कविवर के सुपुत्र वयोवृद्ध बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन को है, जिसके लिए वह बधाई एवं धन्यवाद के पात्र हैं। स्य प्रस्तुत। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। —ज्यो० प्र० जैन

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर

भाग १ से २० तक में

छपे लेखों की सूची

(१)

विषय सूची	लेखक	भाग	किरण	पृष्ठ
* प्राचीन आज्ञापत्र	श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य	१३	२	११६
* प्राचीन पत्र	श्रीयुत पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य	१४	१	२४
* प्रो० एच० डी० वेलकर एम० ए० का महत्वपूर्ण कार्य	श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन डी एल०एम०आर० ए०एस०	१२	२	४१
* प्रार्थना चतुष्टय	पं० हरनाथ द्विवेदी	१	२-३	१
* पुण्याञ्जली महाकाव्य	श्री पं० के० भुजवली शास्त्री	१३	१	६६
* प्राकृत व्याकरण की पाण्डुलिपि	डा० नेमिचन्द्र शास्त्री	२३	१	३०-३४
* पालि त्रिपिटक में शाहाबाद	डा० महेश तिवारी	२३	१	३४-४३
* प्रशस्ति श्री जैन सिद्धान्त भवनस्य	श्री ब्रह्मदत्त मिश्र	२३	१	८३-८४
* प्रकाश-गीतम	डा० रामनाथ पाठक प्रणयी	२३	१	८५
* १५-१६ वीं शताब्दी का जैन साहित्य	डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल	२३	२	६२-७०
* पार्श्वनाथ स्तोत्रम	पं० श्री पन्नालाल	२५	२	१-५
* पतियानदाई की अद्वितीय प्रतिमा	श्री गोपीलाल अमर	२५	२	४०-४३
* प्राचीन भारतीय युद्ध विज्ञान	श्री प्रेम सुमन जैन	२५	२	४४-६१
* प्राकृत भाषा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ कोष्टक चिन्तामणि	श्री अगरचन्द नाहटा	२६	१	४१-४५
* प्रमाण : एक तार्किक विवेचन	प्रो० रंजन सूरिदेव	२७	१-२	५४-६३
* प्राकृत जैन स्तोत्रों का भक्ति एवं दर्शन मूलक विश्लेषण	डा० केदारनाथ ब्रह्मचारी	३८	१	१-८
* प्राचीन स्तम्भ: क्या सभी अशोक के हैं ?	श्री सुबोध कुमार जैन	२८	२	२२-२३
* प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य	डा० मोतीलाल रस्तोगी	२६	१	५५-६८
* पालाका का अति प्राचीन जैन शिलालेख	श्री हंसमुख डी साकलिया	२६	२	६-१२
* पौन-शनी पूर्व	श्री सुबोध कुमार जैन	३०	१	२७-३२
* पुण्यधाम ऋषभदेव का ऐतिहासिक महत्व	श्री गिरीश शर्मा	३०	१	२७-३१
* प्राकृत मे कृष्ण काव्य	डा० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'	३०	२	३३-४५
* पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति		१७	२	१२६
* बसदिया वर्णित शब्द की कुछ समीक्षा	पं० के० भुजवली शास्त्री	३	४	१४७

The Jaina Antiquary

VOL. XXXI *DECEMBER 1978.* *NO.—2*

"श्रीमत्परमगम्भीरस्यद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोकनाथस्य शासनं जिनशासनम् ।"

[अकलंकदेव]

Edited by :
Dr. Jyoti Prasad Jain M. A., Ph D.

Published by :
Shri Subodh Kumar Jain, Secretary

SHRI DEVKUMAR JAIN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE
SHRI JAIN SIDDHANT BHAWAN
ARRAH : BIHAR . INDIA.

ANNUAL SUBSCRIPTION
Inland Rs. 20.00 | Foreign Rs 30-00 [Single copy Rs. 10-00

CONTENTS.

● ●

Vol XXXI } ARRAH, DECEMBER 1978. { No.—2

Summaries of Papers read in Prakrit and Jainism Section
at the 29th All India Oriental Conference (1978)

THE TAVA COMPLEX IN THE EARLY JAINA CANON

B. Bhatt

Centre for Jaina Studies, University of Rajasthan, Jaipur

What is understood by tava (Skt. tapas, "penance") in Jainism is divided into "outer penance" (six subdivisions) and "inner penance" (again six subdivisions). The locus classicus for their treatment and enumeration is Uttaradhyayana Ch 30.

The tava tract occurring in almost identical form in two later texts, viz. Aupapatika (17-19, S. II, pp 8-12) and Bhagvati (25 7.801-03, S. I, pp. 893-97) is clearly an accretion. In Aupapatika, the tava tract is spurious, interrupting the continuous narration. In Bhagavati, it differs from the context on account of a Nandi pattern alien to the text proper. Again the tava tract was transferred from Aupapatika to Bhagavati (and not vice versa); on the other hand, Aupapātika borrowed it from Uttarādhyayana Ch. 30.

The tava complex which has as such remained a core of the classical Jainism, has its earliest version in Chapter 30 (vss. 1-37, S II, pp. 1036-37) of the Uttarādhyayana. Here, the omoyaraṇa portion (vass. 14-24) embedded into the main complex is on the whole a latter insertion (cf. Alsdorf: Aryā, Akademie. d. Wiss., pp: 209-14).

A careful comparision of Uttarādhyayana Ch. 30 and an earlier prose commentary called Cūrṇi (ŚS. p. 274) on it even throws doubt on the genuine character of some verses. In spite of their key position some verses are ignored by the Cūrṇi text, while some of them seem to be a later addition in Chapter 30.

On the basis of this investigation corroborated by relevant canonical sources, we have to assume that the original version of the tava complex is much simpler and consists of five "mahāvratas", to use the later term, plus rāibhoyaṇa virao (all in Uttarādhyayana 30. 2). These terms constitute the earliest concept of tava in Jainism, around which the tava complex with six outer and six inner penances evolved during the early post-cannonical literature of the Jainas.

PJ-2

Some Peculiar Form From The Vasudevahindi

Dr. K. R. Chandra

School of Languages, Gujarat University, Ahmedabad

In the VH there are certain peculiar forms which are not recorded by Pischel or Alsdorf. May be that they are either colloquial or faulty but a number of them are supported from other sources. Here they are given as follows :-

I. Phonology

1. Changing of the ending nasalised short vowel into a long one.
2. Nasalisation of terminations and participles.
3. Y-śruti of residue medial vowels other than a and ā, even of those medial residue vowels which are preceded by u, e and o.
4. Instances of intial conjuncts cch and ṭṭh.

II. Morphology

(A Genders

5. Masculine form for Neuter

(B Nominal forms

6. Nom for Acc.

7. (i) Acc. for Nom. (ii) guruvo (for guravo) as Acc. pl. of guru
8. Acc. for Gen.
9. Instr. for Gen.
10. Use of Masc. Abl. sg. termination (aṁ) for Fem. Abl. sg.

(C Pronominal forms

11. Nom. sg. (esa) as Acc. sg.
12. Nom. sg. (tं) as Acc. pl.
13. taṁ in the sense of 'therefore'

(D) Numbers

(i) Singular for Plural

14. in Vocative
15. in Nominative
16. in Instr.
17. in Past Passive
18. in Indicative
19. in Imperative
20. in Future

(ii) Plural for Singular

21. in Vocative
22. in Imperative

(E) Conjugation

23. in Future
24. Extension of अ, i,e to the roots before taking terminations
25. Tenses and Moods one for another

(i) Indicative in the sense of Imperative Optative

(ii) Future (a) in the sense of Optative.

(b) in the sense of Imp. or Optative

(iii) Imp. termination for Future

26. ha, hi, and he as augments of Future

(F) Participles

27. Passive forms in Future without taking i before termination

28. Infinitive participle–aum and yam
29. Absolutive participle
30. Present participle inta
31. Past passive participle ijja
32. Active as Passive
33. Passive root as base for participles

(G) Curni-type brief style of sentences

PJ.-3

A Literary Evaluation of Pandita Asadhara's Dharmamta And Its "Auto-Commentary"

R. J. Deouskar

C. A. S. S., Poona University, Poona-7

Pandita Āśadhara was an erudite and prolific Jain writer who flourished in the 13th century A.D. He was born in Rajasthan, but the place of his literary activities was Dhārā and Nalacha, then centres learning in Madhya Pradesh. As a token of appreciation of his versatile genius and poetic embellishments, Aśadhara was hailed as 'Kali-Kālidāsa' by his friend and poet saint Udayasena Muni and as 'Prajñā-Puñja' by Madanakirti, the royal teacher of King Arjunavarman of the Paramāra dynasty.

Aśadhara has enriched Jain Sanskrit literature by composing about twenty works on various branches such as Ethics, Logic, Mysticism, Rituals, Rhetorics, Kāvya Stotra Lexicography and Ayurveda.

Usually one may not expect high literary merits from Jain religious works, Aśādhara seems to be one of the very few Jain authors who have not neglected even the literary aspect while composing technical works dealing with Acāra etc.

An attempt is made here to evaluate a literary merit of Aśādhara's Dharmāmṛta with its auto-commentary.

PJ-4

Lord Mahavira In Hindi Literature

Dr. Lakshmi Narayan Dubey

Deptt. of Hindi, University of Saugar, Sagar (M.P.)

The paper takes a review of the vast Hindi literature on Lord Mahāvira both in the medieval and the modern periods. Beginning with the Vardhamāna Purāṇa the author mentions various poems, dramas, novels, short stories etc. on the life of Mahāvira. He also mentions articles and other critical literature on this subject and remarks that the whole literature in Hindi on Mahāvira requires a systematic classification and publication.

PJ-5

On Some Instances Of Epenthesis In Prakrit

S. N. Ghosal

51/L Barcha Road, Calcutta 700019

There are certain forms in Prakrit which have been differently explained by scholars, but these can better be explained by presuming the working of epenthesis in them in course of development from the earlier forms. This has been shown by analysing the origin of the forms velli, sejjā, gejjha and sella which develop respectively from valli, śayyā, grāhya and śalya of Sanskrit. The first three have been differently interpreted by Pischal and the last one has not been explained by anybody at all But all these forms can be quite satisfactorily explained if one be ready to admit the working of epenthesis in them while they are in course of evolution from Sanskrit.

PJ 6

The Conception On Arhat In Jainism & Buddhism

Dr. Bhagchandra Jain

Deptt. of Pali and Prakrit, Nagpur University, Nagpur

Both, Jainism and Buddhism, accept the principle of Karman and Arhat to a great extent. Their main aim is to lead the

beings to the highest goal of life. During the process of this achievement both the Śramaṇic religions explained the nature of Arhat but in a different way.

I have made an effort in this paper to submit the nature of Arhat with a critical approach and tried to point out the fundamental differences with its background between these two leading philosophical views.

PJ-7

Anaptyxis And Assimilation In Prakrit Dialects

P. M. Joseph

St. John's College, P.O. Anchal (Kerala)

Anaptyxis or Svarabhakti was in vogue as is evident from the Vedic dialect. Even in Sanskrit there are evidences to think that some of the clusters that we find with y or v as the last number were separated with a vowel in early times. The Sutra of Pāṇini, Na yvābhyāṁ padāntābhyāṁ purvaṁ tu tābhyām aic 7-3-3) in the Taddhita Prakaraṇa suggests that the Taddhita form is based on a form that is not in vogue at present. Thus from the form vaiyākaraṇa we have to suppose a hypothetical form viyākaraṇa as, in Taddhita Vṛddhi change is effected on the first vovel, Ai is the Vṛddhi change of i and in the form vyākaraṇa we do not find this viy in Classical Sanskrit.

In Prakrit dialects anaptyxis is found in the more archaic of them and in the latter Prakrits assimilation is more in vogue. The paper is an attempt to ascertain whether the Svarabhakti forms found in Prakrit dialects are earlier than the clusters found in Classical Sanskrit.

PJ-8

Prakritism in Early Kannada Inscriptions

Dr. B. K. Khadabadi

3, Pal Building Saptapur, Dharwar 580001

It is an established fact that the Jaina teachers and authors, who were Prakritists, were the earliest cultivators of Kannada

language for literary purpose. And in the course of their instructional and literary activities, naturally, they must have enriched the Kannada vocabulary by lending several needful Prakrit words.

There is not available contemporary material for the study of this important phenomenon. However, we have some early Kannada Jaina inscriptions and literary works that give us a few glimpses of the later phase of this phenomenon. Keeping this in view, I have taken a sample survey of the early inscriptions, on the Small Hill (Cikka Betta) at Śravaṇabeḷa and noted here, with some observation, Prakrit words and words with Prakritic influence found therein.

PJ-9

Bhoja's Srngaraprakasa : Prakrit Text Restored

Dr. V. M. Kulkarni

5, Suruchi Society, Dixit Road Extension, Vile Parle (East), Bombay-100057

Over a hundred Prakrit passages in Bhoja's Śṛṅgāraprakāśa (Vol. III : Prakāśas 15-24) are highly corrupt and therefore. obsqure. An attempt is made in this paper to reconstruct thirty-five of those passages keeping in view the context, the metre the tenor of the passage, and parallel ideas found else where in Prakrit or Sanskrit Literature.

PJ-10

A Study Of The Chaya On The Candaleha

Dr. S. D. Laddu

C. A. S. S. Poona University, Poona 7

The Sanskrit Chāyā of Rudradāsa's Candaleha has been edited by the late A. N. Upadhya in his masterly edition of the Saṭṭaka. He has based its text on the MSS. ka. and ma, and has also tried to interpret it in a manner faithful to its MSS. The paper seeks to suggest some improvements in the interpretation of the Chāyā in its relation to the Prakrit text of the play.

PJ-11

Cycle Of Days In Jambudvipa-Prajnapti

Dr. Sajjan Singh Lishk and Dr. S.D. Sharma

Department of Physics, Panjabi University, Patiala. 147002

The paper throws light upon the cycles of days in ancient India. In Ṛgvedic period, a day was called after the name of Nakṣatra(asterism) occupied by the Moon on the day and consequently there was a cycle of twenty-eight days corresponding to the twenty-eight Nakṣatras (asterisms). According to the Jambudvipa-Prajñapti (=JP), the fifth upāṅga (sub-limb) of the Jaina canon of sacred literature, and a work of about 500 B. C., there was a cycle of fifteen days (and night). The days and nights were called after the ordinal numbers from one to fifteen respectively. A specific nomenclature of the fifteen days (and nights) is also found in the JP and it is entirely dtfferent from the nomenclature of the fifteen days (and nights) Tithis (lunar days). Thus the fifteen-day cycle is quite distinct from the fifteen Tithis in a lunar half.

Jainas had a notion of eighty-eight Mahāgrahas (big planets) including a class of Tārakagrahas (star planets viz. the Sun, the Moon, Mars, Mercury, Jupiter Venus, Saturn). however, leaving aside two shadowy Tarakagrahas, Rāhu Dragon's head) and Ketu (Dragon's tail). These seven planets viz the Sun, the Moon etc are mentioned in the Atharva-Veda-Jyotiṣa as the lords of the days This alludes to the notion of a seven-day week. It is however, as yet not ascertained whether or not Jains had any notion of week days.

The terminology employed for naming the fifteen days and nights might have been developed under the influence of liturgical purposes and astrological prognostications. Real secrets of this mystery are yet to be unravelled. Besides it is worthy of note that the ancient Jews also counted the days by ordinal numbers from one to seven. The Jains practice of

counting the days by ordinal numbers from one to fifteen is a unique contribution of the exponets of the Jaina School of astronomy. More research work is called for bridging the big gap between Vedānga Jyotiṣa (Vedic astronomy) and Siddhāntic astronomy.

PJ-18

The Story Of Çarudatta

H P. Nagarajaiah

1079, 5 Block, 'R' Nagar, Bangalore

On the basis of the two plays; of Bhāsa's Daridra-Cārudatta (BDC) and Śudraka's Mrcchakaṭika (SMK), it is possible to assess Cārcudatta (CD)'s personality, which is far from what we see in Jain literature. CD appears to have favoured a political movement against the then prevailing establishment. There was a group of rebels conspiring to dethrone King Pālaka of Ujjayini. CD was a reliable friend of the leaders who championed the cause of revolution. Both as a rich merchant and as a highly respectable man in the social hierarchy, CD's association with persons of opposite camp must have indirectly added strength in boosting moral courage to their movement.

Both Bhāsa and Śūdraka might have borrowed the theme from Guṇāḍhya's Bṛhatkathā (GBK), or from a different source, may be from folk literature. According to the available data, the story of CD. appears first in GBK. It is possible that GBK might have incorporated this story from its contemprary folk-literatue. The love episode of CD. and Vasantasena, their loyalty to each other, particularly a unique instance of a prostitute turning out to be a devoted wife must have inspired the poet and the laymen alike. Obviously due to this popularity, folk songs and stories originated long before GBK, BDC. and SMK appeared on the literary scene.

It may not be far-fetched to reckon that this folk tradition entered the classical literature in two forms, through GBK on

one side and through BDC-SMK on the other. Jain literature of the later period retaining the total frame of GBD assimilated the saga of stainless love as depicted in BDC and SMK, shifting the place of action from Ujjayini to Campā. In Jain narrative literature the historical background, whatever is found in the story of CD, recedes giving way to more of sociological features, retaining the essence.

There is so much of meterial available in Indian literatnre from both Jain and non-Jain sources on CD. A comparative and comprehensive study of this data will be worthwhile from various points of view. Such a study will also help the research scholars in reconstructing the proto-form of CD's Story.

PJ-20

Observation on some irregularities in Prakrit forms as noticed in Pischel's two edition of Abhijnana-Sakuntalam

Dr. Anima Saha

4/C, Sitaram Ghose Street, Calcutta-700 009

Pischel's edition of the Abhijñāna Śākuntalam commands the esteem of scholars particularly because of its precision in regard to Prakrit forms. The second edition of the book, though published after Pischel's death, is stated to be based on revision of the text as done by Pischel in an interleaved copy of his first edition. The edition shows certain deviations from the first edition most of which are certainly improvements. But in spite of rivision there are a few irregular forms which, in the opinion of the present writer, require further examination. Moreover, phonetic changes done by him, in the second edition regarding some of the Prakrit forms, though philologically justified, require a re-thinking.

We propcse to discuss the following cases :

1) Non-retention of primary dh in ś.
2) Elision of intervocalic d in a number of cases in ś.
3) Non-elision of intervocalic k in sakasa.
4) Use of Pkt. form uṇa corresponding to Skt. puna even when coming after an anusvāra

5) Use of the non inflected from esa in Masculine Nom. sing. without consideration of the sound following.
6) Divergences of the second edition from the first in the following cases :
a) Karaṇiam for Karaṇijjam
b) pivianti for pijjanti
c) pajjāutāo for pajjāula
d) parabbaso for parabaso
e) tusmānam for tumhānam
f) bhastake for bhaṭṭake
g) peskāmi for pekkhāmi
h) gaṇṭhiścedā for gaṇṭhichedā
gaścami for gacchāmi
i) °hasta for °hatthā

PJ-21

The Concept Of Twofold Truth According To Nagarjuna And Kundakunda

S. M. Sinha

Univervity of Poona, Poona—7

According to Nagarjuna, the distinction of the mundane and the Ultimate truth, constitutes the must basic conception in the teachings of the Buddha. Thus, he says in the Mādhyamikakarika, XXIV, 8-10 : "The teachings of the Buddha are based on two truths. the mundane and the ultimate. Those, who do not know the distinction between these two truths, do not understand the profound meaning of the teachings of the Buddha. The ultimate truth is not taught apart from the mundane And without having attained the ultimate truth one cannot achieve nirvāṇa."

Kundakunda, perhaps, breathing the philosophical atmosphere of the same time, adopts the same attitude while elucidating the nature of Reality according to Jaina Philosophy. In his works Samayasara, he describes the mundane truth from the empirical standpoint and the ultimate truth from the transcedental standpoint.

The present paper undertakes a comparative study of the concept of twofold Reality according to Nāgārjuna and Kundakunda which forms the central point of their philosophy.

PJ-26

Gosala Mata And Materialism

Dr. P. M. Upadhye
10, Snehawardhini, Goregaon (East), Bombay 63

Gośala-mankhaliputta was considered to be the founder or the leader of the Ajivika sect and was the contemporary of Mahāvira. He did not acept Mahāvira as a prophet but he claimed himself to be prophet and expounded his philosophy as follows : (a) There is no such thing as exertion or labour or power or energy or human strengh, all the things are unalterably fixed, (b) There is no cause of purity of beings, they become pure or impure without any reason. c) Nothing depends upon human exertion. d Various condition of beings are due to fate and due to their own nature (in way it is Svabhāvavada or naturalism). Thus Gośala denies the free will of a man and his moral responsibility for any good or evil. Taking into account such views, it appears that his views come nearer to materialism or Jaḍavāda. In a way it is like a 'nistika-view', not in the sense of Vedanindaka but in the sense that it does not accept ideas and teachings of persons like Mahāvira and other prophets. His view is contrary to the accepted beliefs and teachings. He speaks of physical world or external world, as can be seen from his self-advocated dectrines.

In this article an attempt is made to examine Gośāla's view from the point of Jaḍavāda or materialism. The study reveals that Gośala was also materialistic in his attitude towards life and there can be hardly any materials difference between him and Gārvāka. In the history of materialism along with Cārvāka, Gośala should also be considered as an exponent of materialism. He may be even earlier to Cārvaka because of the fact that Gośāla's views seem to be earlier to the views of Cārvāka available today from historical points of view.

PJ-27

Jainism Qua Hinduism

H. S. Ursekar

'Prerana', Angrewadi, V. P. Road, Bombay—400 004

In this paper I propose to consider the position of Jainism vis-a-vis Hinduism. It is indeed controversial topic and hence it calls for a detached attitude and dispassionate approach

There are four possible theories urged :

(1) Jainism is the child of Buddhism; (2) Jainism is the child of Hinduism, Jainas being a dissenting or reformist section of Hinduism and hence a sect of Hinduism. (3) Hinduism; is the child of Jainism; (4) Jainism is considered as a separate independent pristine creed parallel to Hinduism.

Jacobi has conclusively proved that Jainism is older than Buddhism. Jainism can be traced back historically to about 2800 years which is certainly a period less ancient than that of Hinduism which spreads over a long period of at least 4000 years.

The Supreme Court of India in the case of Yajnya Purushdasji Vs, Muldas has accepted Tilak's definition of Hinduism : A Hindu accepts the authority of the Vedas and believes that there are diverse paths to salvation and that one can worship any God.

Jainas have not condemned Vedas anywhere. Ganadharavāda is regarded as giving the essence of Jain Agamas and hence it is respected highly as an authority by the Jainas. In that book Lord Mahāvira expresses his opinion about the Vedas with reverence and quotes the Vedas.

According to Jainism, means to salvation are diverse. (I have quoted Tattvārthasūtra by Vācaka Umāsvāti) Jainas Worship 24 Tirthankaras. Thus there is choice of objects of Worship. It is suggested that figure 24 might have been inspired by 24 names in the Sandhyā Vidhi.

Jainism it is shown, satisfies Tilak's test of Hinduism. Jainism has in common with Hinduism features like the caste system, Karma theory, cycle of births and deaths, existence of the soul and its salvation, the concepts of Pāpa and Puṇya and the basic values of life like non-violence, truth, charity, peace and freedom of the individual. For it is the community of fundamental values of life that lends cohesion to a religion.

In fine, we map conclude that Jainism is a dissenting faith of Hinduism, of a reformist nature because of its emphasis on ethical values of life like Ahiṁsā.

PJ-28

A Note On Uttarajjhaya 12 And Pali Matanga-Jataka

Michihiko Yajima

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona—4

It is well known that the 12th chapter of Uttarajjhayā ("Hariesijja", bears close similarity to the Pali Mātonga-Jātaka (Fausböll No. 497). Jarl Charpentier was the first scholar who compared these two texts Recently, Ludwig Alsdorf also has dealt with them partly and made some difficult passages and words clear Although these studies have already been given to us, many problems still remain to be solved. So, some points, mainly concerned with the readings of both the texts, are discussed in the paper.

— — —

JAINS OF INDIA
—A Geographical Distributional Pattern

By RATAN LALL TUKLIYA, Rseearch Scholor, Udiapur

The Jain community which is confined strictly to the Indian region is an ancient human group. It is distinguished from such other groups on the basis of its distinct way of life. It is at the same time a purely indigenous, essentially pacific but influential and traditionally effective group contributing handsomely towards the total national ethos. Inspite of their strict religious disciplines and moral percepts, they have been able to survive and maintain their socio-religious identity during the last 2500 years through ecological adaptation and symbiosis particulary with reference to the economic and technologial changes. Though almost all the occupations of mankind such as farming, stock-raising etc., are acceptable to them yet, trade, commerce, banking, money-lending, specialised professions and various types of services engaged them most. Even to this day 50% of the Jains are a mercantile community, some 35% are engaged in services including specialized professions like medical, legal, teaching' engineering and journalism by virtue of a high standard of education next only to the Parsis. Besides being a distinct socio-religious group they are also a distinct economic group wealthy and with a high standard of living. They have also been very active in the promotions of works of public welfare including activities aimed at kindness to fellow beings as well as to animals.

The total number of persons professing Jain faith as per 1971 Census was 26,04,837 which is only 0.47 percent of the total population of India. Thus numerically among the religious communities of India, the Jain form the fifth largest group preceded by the Hindus, Muslims, Christians and Buddhist, whose share in percentage are respectively 82.72, 11.21, 2.60, 0.70. The relevant data are produced in Table No, 1.

TABLE NO. 1

Major Religious Communities of India 1971

Religious Communities	Population	% of total population	Percentage increase (1961-71)
Hindus	453,299.086	82.72	23 69
Muslims	61,417,930	11.21	30 86
Christians	14 223,382	2,60	32.85
Buddhists	3,812,325	0.70	17.20
Jains	2.604,646	0.47	28.48

Source .—Census of India, 1971 Series 1 : India Paper 2 of 1972, Religion.

The pattern of geographical distribution of the Jains in India is of interest. They are largely confined to western half of the country, west of a line joining Mysore with Delhi, There appears to be some sort of relationship between the semi arid and arid zones of India and the concentration of Jain population. It may not be arbitrary to say that the bulk of Jains, roughly 24 percent are confined to those parts of India receiving less than 60 cm. of annual rainfall. This is more evident in Western India covering Gujarat, Rajasthan, and Haryana including the Union territory of Delhi. In the Deccan, the concentration of Jains in Western Maharashtra except Greater Bombay and West Central parts cf Karnatak coincide with the semi arid tract of the rain shadow area of the Western Ghats.

According to state wise distribution of Jain population, five state namely Rajasthan, Gujarat, Maharashtra, Madhya Pradesh and Karnatak stand out prominently, where the percentage is higher than the National average of 0.47 percent. The share of Jain population to total population in these five states are in the following order, Rajasthan (1.99), Gujarat (1.69) Maharashtra (1.40), Madhya Paadesh (0 85), Mysore (0.75)

The above position remains more or less unchanged when the State-wise share of Jain population to total Jain population of India is taken into consideration. Maharashtra having a share of 27.01 heads the list followed by Rajasthan, 18.71. Gujarat 17.33, Madhya Pradesh 14.2, Karnatak 8 40,. These five state have 86-47 percent of total Jain population of India, rising to 91.25 percent when Uttar Pradesh is added to the list.

The relevant data are provided in the table. 2

TABLE NO. 2

State-wise number and share of Jain population 1971
(More important State)

States.	Total number Jain Population	Percentage of Jain population of India	Percentage of total population of State
Maharastra	703672	27.01	1.40
Rajasthan	513548	19.71	1.99
Gujarat	451578	17.33	1.69
Madhya Pradesh	365211	14.02	0.83
Karanatak	218862	8.40	0.75
Uttar Pradesh	124728	4.78	0.14

There are 34 districts in the 6 states referred above and the Union Territory of Delhi where Jain population exceeds 20 000 that is more than 61 63 percent of the total Jain population of India. The relevant data are provided in table. 3.

TABLE NO 3

Number and distribution of Jain population in the more important districts, 1971.

Districts	Jain Pupulation	Percentage of Jain population of India	State
Greater Bombay	244721	9.39	Maharastra
Belgaum	110135	4.22	Mysore

Ahmedabad	104047	3.99	Gujarat
Kolhapur	93365	3.58	Maharastra
Udaipur	78507	3.01	Rajasthan
Saghli	59457	2.28	Maharastra
Kutch	57107	2.19	Gujarat
Delhi	50515	1.93	Union Territory
Poona	46463	1.78	Maharastra
Pali	44596	1 71	Rajsasthan
Jaipur	37427	1.42	Rajasthan
Ajmer	37427	1.43	Rajasthan
Jalore	34751	1.33	Rajasthan
Rajkot	31868	1.22	Gujarat
Banas Kantha	31755	1.21	Gujarat
Jammagar	29952	1.14	Gujarat
Bhavnagar	29143	1.11	Gujarat
Ahmadnagar	28331	10.8	Maharastra
Surendranagar	28224	1.08	Gujarat
Meerut	7665	1.06	Uttar Pradesh
Sagar	27017	1.03	M. P.
Bhilwara	26911	1.03	Rajasthan
Indore	26135	1.00	M. P.
Churu	25786	0.98	Rajasthan
Barmer	25218	0.96	Rajasthan
Jodhpur	24669	0.94	Rajasthan
Mehasana	24046	0.92	Gujarat
Mandsur	23581	0.90	M. P.
Chittorgarh	23406	0.89	Rajasthan
Dharwar	22285	0.85	Mysore
Bikaner	22266	0.85	Rajasthan
Nasik	21450	0.82	Maharastra
Agra	21255	0 81	Uttar Pradesh
Sholapur	21008	0.80	Maharastra
Surat	20292	0.78	Gujarat
TOTAL	1560607	59.90	

Examining the State-wise distribution of such districts, it becomes clear that Rajasthan has 11 such districts followed by Gujarat having 9, Maharashtra. 7. Madhya Pradesh 3, Karnatak 2, Uttar Pradesh 2 and the Union Territory of Delhi.

It is of interest to note that only 5 districts such as greater Bombay, Belgaum, Ahmedabad, Kolhapur and Udaipur District have about 25 percent Jain population of India and only greater Bombay have 9.39 percent. The district-wise plotting of Jain population brings out the following 7 nodes of concentration of Jain population :

1 The Kolhapur-Sangli-Belgaum-Dharwar Node
2. The Greater Bombay Node
3. The Udaipur-Jaipur Node
4. The Ahmedabad-Bhavnagar Node
5. The Nasik-Poona Node
6. The Delhi-Node
7. The Indore-Ujjain Node.

These nodes contain about 39.58 percent of the total Jain population of India. Besides these 7 nodes. 9 less important areas of concentration can also be pointed out. which contain another 19 05 percent of the total Jain population of India These are as follows :

1. North Western Saurashtra
2. Sirohi-Jalore-Pali-Jodhpur
3. Sagar Damoh-Jabalpur
4, Meerut-Muzaffarnagar
5 Madras-Arcott
6. Bangalore-Mysore
7. Agra
8, Calcutta
9. Shimoga-South Kanara

Beside these major and minor areas of concentration of Jain population the remaining 42.37 percent of total Jain population of India are found largely scattered.

Kerala, most parts of Tamil Nadu, Andhra Pradesh, Orissa, most parts of Uttar Pradesh; Bihar, Jammu, and Kashmir. Sikkim, Assam and North Eastern States may be described as the negative areas of Jain population. What is most surprising is the insignificant number of Jains in Bihar which remained the most active theatre of propagation of Jainism under the leadership of last three Trinthakaras namely, Neminath, Paras-vanath and Mahavira.

The present pattern of distribution and concentration of Jain population in India can be ascribed to two reasons namely, first, distribution and concentration arising out of original settlement, secondly distribution and concentration due to more recent migration since the advent of the British rule and the development of modern means of transportation particularly the railways and rise of new commercial opportunities, specially in the metropolitan port cities like Bombay, Calcutta and Madras.

It appears to be quite probable that since the time of Mahavira when Jainism became more popular and dominent, it found more favour with the people of Western India, i.e. Western Uttar Pradesh, Delhi, Haryana, Rajasthan, Western Madhya Pradesh, Gujarat, Southern Maharashtra and adjoining areas of Karnataka Since then these areas have remained strong-holds of Jainism.

Even the more recent migration of Jains to great commercial areas mentioned above is of great value and worthy of scientific investigation It is of interest to note that the bulk of these migrants are from Rajasthan and Gujarat

On the basis of the area of resident of Jains it may be pointed out for India they have more inhabitants in the urban areas, the percentage being 59.81. This is an exceptional characteristics. the Jains being largely in commercial pursuits prefer to concentrate in the commercial contres which may range from metropolitan areas like Bombay, Ahmedabad,

Calcutta, Madras, Delhi to market towns However, certain rural areas of Maharashtra (except Greater Bombay) Karnatka, Rajasthan and districts of Kutch, Banaskantha and Sabarkantha have Jain population.

As for sex structure, it was calculated to be 939 females per 1000 males on the basis of 1971 for India. It is of interest to note that three states namely, Rajasthan, Gujarat, and Manipur has more females than males. The first two states have more prominent Jain population. The highest ratio is in Rajasthan having 1010 females per thousand males. The Jain sex ratio is higher than India's average which is only 932 females.

——

A TAVESTY OF HISTORY

—By Dr. Jyoti Prasad Jain

In the present century, quite a member of books have been published on the history of Jainism, yet the subject has not been exhausted and every new book is welcome It is, however, desirable that new publications should add to this existing knowledge, try to cover uncovered aspects and fields and contribute to historical research instead of distorting well-extablished facts and creating new misunderstandings. Recently, the following book has been brought out, which looks more a travesty of the history of Jainism than what its caption implies.

The book referred to is a comprehensive History of Jainism (up to 1000 A.D.) by Dr. Asim Kumar Chatterjee. pub by Firma KLM Pvt. Ltd. Calcutta, 1978, pages 400, price Rs. 75/-

The auther is a comparatively young but promising scholar of ancient Indian history and culture, who has to his credit works like The Cult of Skanda-Karttikeya in Ancient India (1970) and Ancient Indian Literary and Cultural Tradition (1974). The present work appears to be his first, albeit a praiseworthy. attempt in the field of Jaina history. He has taken pains in gleaning his material from a good number of primary and secondary sources and in presenting it in a handy readable form. substantiating his account with relevant references. His approach is justifiably critical, but at times it appears to become too critical, even verging on the dogmatic. This has led to quite a number of unwarranted inferences, surmises and conjectures. Some of the auther's preconcived notions and deep rooted biases, if not prejudices have coloured his theories which he does not tire in hammering down the throat of the readers time and again Cases of misinterpretation or twisting of facts are not rare To give few examples, Dr. Chatterjee seems to have started with the presumptions—
(1) That in ancient times. prior to the alleged rise of Jainism and Buddhism, the entire population of the country was

Brahmanical and no other religious system, cultural current way of life and thinking except the Vedic which did include the Bhagawata, Saiva and Vaishnava forms was prevalent in India; (ii) that Jainism like Buddhism is a heretical sect which 'Originated some 800 years before the birth of Christ, as the first genuine protest against the Brahmanical religion;' (iii) That 'the penultimate Tirthankra Parsva was the real founder of Jainism, who preached his new religion around 800 B C.'; iv) That the conception of the earlier 22 Tirthankaras, including Rsabha and Aristanemi, dates since the post Mauryan times (3rd-2nd century B.C.); (v) That Mahavira was a junior contemporary of the Buddha although he died a few years before the latter; (vi) That "Lord Mahavira died only in the 2nd quarter of the 5th century B. C., and not earlier, as supposed by many Jaina writers. But this we would like to discuss in a seperate Appendix", (p. 108). The promised discussion is no where to be found in the present volume. Dr. Chatterjee does not specifically mention the date anywhere, but indirectly hints that it must be 455 B, C or at the most 468 B C. He seems to forget that his surmise is quite at variance with the traditionally and unanimoualy believed, well established, thoroughly examined and carefully arrived at date, namely 527 B C. moreover that his opinion disrupts the entire Jaina chronology pushing forward many dates by some 70 years. This has naturally affected adversly the fixation by the author of many a date of early Jaina history. Does he also believe that the Buddha died about 450 B.C. ? (vii) The author is of the opinion that the Jains under Bhadrabahu did not migrate to the south (Karnataka), nor did Chandragupta Maurya ever become a Jain (pp. 40-41, 133). In this respect, he disregards the Jaina tradition, literary and epigraphical evidence and the opinion of a host of eminent scholars, Indian and foreign. It is strange that in the face of all this evidence he puts his reliance on a work of fiction, the play Mudra-Rakshasa of Vishakhadatta, a Brahmanical writer of the post-Gupta period) (viii). The statement that the Jains from the very

early times, indulged freely in the blind anti-Brahmanism', (p 3) is preposterous. He harps again and again on the Jains' antagonism towards the Brahmanas and their religion, and even goes to say that 'the present author strongly believes, that it was the business community who started patronising this religion (Jainism) from the Ist. Century B C., who were responsible for moulding it as an anti-Brahmanical religious system' (Preface P, VI). He forgets that the few Jaina writers who tried to ridicule certain fantastic Puranic myths or blind superstitions of the common followers of Brahmanism, were not the members of the Jaina business community, but were mostly Brahmans like Haribhadra whom Dr. Chattarjee calls a 'renegade' (p. 282). The Brahmana-Sramana or Brahmana-Kshatriya rivalry was not unknown even in the Vedic and later Vedic ages. The Vaish has always been a tolerant and peace-loving person. Moreover although the Jains are known to have suffered severe persecutions at the hands of the Brahmanical Sungas, the Saivas, Vaishnawas, Lingayatas, etc., there is hardly any instance in history when the Jaina persecuted non-Jains. And, if the Jaina writers are charged with taking little notice of non-Jaina systems. what about the entire range of Brahmanical literature including the Vedic, later Vedic, the two epics, the Puranas and the classical works, even the Buddhist books. which were all written when Jainism was in existence and often flourishing, yet allusions to it were scrupulously avoided, or made in a derogatory manner. Anyway, such insinuations are not happy in a sober work on history. (ix) The same remarks applies to the attempts of Dr. Chatterjee where he tries, may be inadvertently, to sow seeds of dissension between the Digambaras and the Shvetambaras in different ways. (x) He takes for granted that the Jaina literature, whether of the Digambaras or the Shvetambaras. is inferior to, much less reliable and later in date than the Brahmanical books including the Ramayana, the Mahabharata and even the Puranas. (xi) Similarly, the author starts with the presumtion that every historical person was naturally

a follower of Brahmanism unless and until he or she is definitely and squarely proved to have been an adherent of Jainism, Even then the learned author, in most cases, would grudgingly admit. 'It seems, this king or ruler was not against Jainism' In the same vein, he generally presumes that Jainism reached or was introduced in particular locality or region on a particular date, simply because the earliest definitely known Jain inscription from that place or region is assigned to that date or period. Would the learned author be prepared to apply the same reasoning with regard to the rise or spread of Brahmanism, Saivism or Vaishnavism in different regions? (xii) In ch II of the book, the author gives a brief account of the nature and contents of the different canonical texts of the Shvetambara tradition. Two things are curious in this account, Firstly, he completely avoids any mention of the celebrated saint Devarddhigani Kshamasramana principally to whom that canonical literature owes its redaction and existence. Secondly, in his description of the 5th Anga text, the Bhagavatisutra, Dr. Chatterjee seems to be overjoyed in making a new discovery'; He writes (p 240), "This Sataka (the 15th Sataka of the Bhagavati) further give the very revealing information that Lord Mahavira ate the flesh of cat (majjarakada) and wild cock Kukkudamansa) when he was down with fever after a debate with Gosala The Jains of modern times find this account quite shocking and hasten to offer various explanations for these terms. Such attempts can be compared with those offered by the devout Buddhists for the term sukaramaddava which Buddha ate in Cunda's mango-grove at Pava. Needless to say, the prophets of the 6th century B C, like other people of that time, were addicted to both vegetarian and non-vegetarian food. Eating of fish and flesh did not clash with their ideas of non-violence. There are other evidence to show that the Jains of earlier times were non-vegetarians like others, allthough by the Gupta period, they became strictly vegetarians." The statement and the manner in which it has been made reflect the mentality of the author

and smack of propaganda. Based as it is on a solitary, doubtful and highly controversial allusion found only in one text which, even according to the present author, had undergone several recensions and belongs to only one section of the Jaina community, this opinion has no relevancy in such a book on history and should better have been avoided. A seasoned and mature historian in generally dispasionate, unbiased-and subjective in dealing with a religious and cultural system and its adherent, especially when he himself is not one of them. Uufortunately, this delicacy, understanding and a sympathetic attitude seem to be wanting in this work. Much work has already been done on different aspects of Jaina history. Had the author carefuly examined all the original sources and gone through the many books on the subject published in Hindi, English, Gujarati, Kannada, etc , and seen the materials scattered in the files of the Jaina and general research Journals, he would not, perhaps, have burdened the account with his own theories and opinions which are often mistaken and misleading. He seems to have been choosy in his sources as also in making the use there of It would, however, take long to comment on every criticisable point in this volume

The book is divided into 14 chapters, 2 appendices, a select bibliography, index and a correction list. Chapter wise headings are : I—Rsabha to Aristanemi (pages 8), II Persvanat pp. 5 ; III-life of Mahavira (pp. 14); iv-Spread of Jainism Early Phase pp. 7); V-Jainism in Mathura (pp. 29); VI-Jainism in Orisa (pp. 10); VII-Jainism in North India-200 B. C. to 600 A. D (pp. 23); VIII-Jainism in South India-Early Phase (pp 29); IX Jainism in North India 600 A. D. to 1000 A.D. (pp 22); X-Jainism in South India-600 A D. to 1000 A. D. (pp. 43); XI- The Svetambhara Canonical Literature (pp. 36); XII- The Non-Canoncial Svetambara literature pp. 18); XIII. The literature of the Digambaras (pp. 22); XIV-Jain Thinkers (pp 12 ; App A- Ajivikism and Gosala (p.p. 9); and App. Early Jainism and Yaksha worship (pp. 8).

Apart from other things, it would be obvious from the scheme of contents and the space devoted to different topics, that the name 'A Comprehensive History of Jainism' is hardly justified. It is at best, in the main, a brief historical account of the existence and influence of Jainism in different parts of India from circa 200 B. C. to 1000 A. D. which, too, needs to be taken with a grain of salt, and not accepted as the truth, the whole truth and nothing but the truth. 'A Comprehensive History of Jainism' is yet a desideratum, Nevertheless we heartily congratulate Dr. Chatterjee for his interest in and contribution to the historical literature relating to Jainism and the Jain. Hope, he would kindly exuse us for the candid evaluation of his work; we look forward to its second volume in which he proposes to cover the period 1000 A. D. to 1500 A. D. and also include chapters on Jaina iconography and philosophy.

—Jyoti Prasad Jain

Jyoti Nikunj,
Charbagh, Lucknow – 1.

LOCATION OF THE PLACE OF ENLIGHTENMENT OF LORD MAHAVIRA.

It is universally agreed and believed by all the sects of the Jainas that the last Tirthankara Lord Mahavira attained full knowledge at Jrimbhikagama on the Northern bank of the river Rijukulva or Rijubelika under a sala tree on Vaisakha Sukla 10 in the afternoon. Regarding the further movements etc. of the Lord we find two different stories. The Digambaras say that after attaining Kaivalya or becoming all knowing Lord Mahavira going from place to place ultimately reached Vipula Hill in Rajgir. He kept silence all the way and did not preach or give any discourse, because, according to them (the Digambaras) a Tirthankara will not speak unless and untill a Ganadhara or a learned disciple is present there.

Indra, the king of god, found out a very learned Brahmana, Gautama Indrabhuti, and brought him near the Lord so that He might speak. This Indrabhuti became the first follower and disciple of Lord Mahavira and after he was admitted to the Order, the Lord's super-human dialogues started. This happened on the 1st day of Sravan

The Svetambara story is a bit different. It tells us that the Lord after passing the 12th rainy season of his ascetic life at Champa (near Bhagalpur) and passing through Jrimbhikagama, Medhia Chhammani etc. had travelled to Pava and thence again to Jrimbhikagama. At Jrimbikagama He sat in meditation under a Sala tree in the field of one 'Svamaka, not very far from the old and dilapidated Vyavrit Chaitya on the northern bank of the river Rijukulva. He was undertaking the two days fast. It was in the afternoon, when the shadows had moved towards the western horizon, that He attained full knowledge and following the tradition, He waited there for a while and started His preaching. But as there, was no human being present at the time, no one took the vow of abstention. The Lord then perceived in His vision that a

rich Brahmana Somila was celebrating a great Yajna at Pava, in which the top ranking learned persons from different places were participating. The Lord thought it to be highly opportune and fruitful to go there and start His preaching.

He immediately walked on to Pava, which was 12 Yojanas away from Jimbhikagama (according to calculation as given in the BHAGAVATI SUTRA 6/7, 12 Yojanas will be equal to 54 or 55 miles). A Samavasaran (religious discourse pavilion) was got erected there the next day. People flocked there to hear Him and have His darsana. Indrabhuti Gautama, one of the participants in the Yajna also came to know of the arrival of Lord Mahavira, and taking Him to be a hypocrite, went to out-wit Him in discussions. But lo! he became a follower of Lord Mahavira along with all his 500 disciples. Another ten topmost Brahamanas and their disciples also followed suit. The Lord waited there for some days more and then went to Rajgriha, where he passed the 13th rainy season (Kalpasutra 120)

The aim of our thesis is to locate Jrimbhikagama. Before pursuing our points, we would like to refer to some of the previous assumptions regarding the location of the above-mentioned place. It will be also important to say here that hitherto there has been a wrong and unfounded belief that almost all the sacred Jain places in Bihar lie in southern Bihar, i e. south of the river Ganges. The researches regarding, end locations of Vaishali as the birth place of Lord Mahavira in the old Muzaffarpur district of North Bihar and Pavanagar as the place of the Nirvana of Lord at Sathiaon in the Deoria district of U. P. in recent years, have practically put an end to the old belief (See an Early History of Vaisali by Dr. Yogendra Mishra, Vaisali by the Late Muni Vijaendra Suriji and our PAVA SAMIKSHA, the last two works in Hindi).

Present Jharia, Jamui, Jambhi, Jogram (Burdwan) etc. are among the places believed to be the possible sites where Lord Mahavira got full-knowledge. The Barakar river is pre-

sumed to be the old Rijubalika Some scholars have laboured to prove the Poonpoon, the Aji or the Kamsa etc. to be the Rijubalika. In our opinion none of these assumptions has got any substance or solid grounds. As we have already seen above, the Lord travelled 12 yojanas from Jimbhikagama to reach Pava. None of the places named above is at the distance of 12 Yojanas either from Pavapuri (Nalanda district) or Pavanagar (Deoria district). Besides the names of the rivers too have no similarity with Rijubalika or Rijukulya. So no one among the aforesaid places can be accepted to be Jrimbhikagama.

We have set out on a journey to explore the real place by sticking closely and carefully to the versons of the Jain literature. Let us also follow the path Lord Mahavira had travelled after the completion of the 12th rainy-season. He had started from Champa and moved westward, crossing the Ganges somewhere near Sonepur, at a point west of the river Gandaka. He arrived at Jrimbhikagama and proceeded further north-west to Medhiya in our opinion Manjha; then according to us to Chhammani i. e. Chhitauli and reached Pavanagar (Sathison-Fazilnagar). He then returned to Jrimbhikagama and again went to Pava etc.

This route naturally suggests that Jrimbhika must be somewhere to the south east of Pava and northwest of Champa, at a distance of 54-55 miles from Pava. This place is quite easy to be located in the district of Siwan or Saran. In our opinion Jhanjhwa is the ancient Jrimbhikagama.

A small rivulet flows by the side of Jhanjhwa towards the south-east. It might have its origin somewhere in the northern parts of the eastern U. P. In Buddhist scripture we find mention of a river by the name of Kulya flowing six miles south-east Kushinagar. This is extinct now. We presume this to be the rive Rijukulya which before it became dead or extinct, flowed through Jhanjhwa. It might have been a branch of the river Narayani Gandaki flowing there

The most important and decisive point is the presence of a sala tree at Jrimbhikagama. We all know that sala trees are found in north-eastern U. P. Nepal and north Bihar etc. The belt starting from the district of Gorakhpur to Tirhut Division, between the Himalayas and the Ganges, has been the producing area of sala trees. Sala trees are totally absent in the regions south of the Ganges. We do not find any mention of presence of a sala tree in any one of the scriputres, in the said area. Hence Jrimbhikagama can never be spotted anywhere either in south Bihar or in West Bengal.

Four factors will determine the genuinenees of the location of Jrimbhika, viz. (i) the name of the place should resemble the name of Jrimbhika, (ii) there must be a river or river-bed whose name should resemble the name of Rijukulya (iii) the place must be in a sala growing belt and (iv) the place must be at a distance of 12 Yojanas about 54-55 mils from Pavanagar. Jhanjhwa fulfils all these conditions. Hence our location of Jrimbhika at the present day Jhanjhwa is fully justified and its authenticity is proved beyond all doubts.

Jhanjhwa is on the metaled road running from Gopalganj to Barauli in the old district of Saran in Bihar. The road joins the National Highway no. 28 connecting Lucknow with Assam. The nearest railway Station (about 4 miles) is Sidhwalia on the Chapra-Siwan loop line of N. E. Railway. Buses also ply between Chapra and Jhanjhwa.

KANHAIYA LAL SARAOGI

It is with great sorrow and a deep sense of personal loss that we announce the death of

Dr. LUDWIG ALSDORF

Professor emeritus for Indology at

the University of Hamburg

Ludwig Alsdorf died on the 25th of March 1978 at the age of 73 in his residence near Hamburg soon after his return from a journey to Ceylon. His unexpected death has put an end to a life which was dedicated to the promotion of Indological studies and to the strengthening of Indo-German ties.

Ludwig Alsdorf's special fields were Buddhology and Jainology but he possessed a vast perspective of Indian studies in their entirety. Above all, he was a true philologist and the standards set by him will be binding for future scholars.

Sri Dev KumarJain Oriental Research Institute and the Members of the Managing Committee grieve this loss & extend their sympathies to the family members of Late Dr Ludwig

S. K JAIN.
(Hony Secy,)

BOOK REVIEW

TREASURES OF JAINA BHANDARAS - Ed. Dr. U.P. Shah, pub. by L D- Institute of Indology, Ahmedabad, firsted 1978, with 35 coloured plates and 187 photo plates Price Rs. 250/-

In November 1975, an exhibition of artistic exhibits collected from 21 Jaina Bhandaras of Ahmedabad, Patan, Cambay, Baroda, Surat, Bhavnagar, Jaiselmer, chani and Mandal. The present is a well-illustrated catalogue with description of the more interesting and select speciments of defferent types. The learned editor's notes on individual pieces, running into 60 pages, are followed by the coloured and black-and white plates, and at the end a classified catalogue of manuscripts and other objects has been given. Dr. U. P. Shah is well known for his deep studies in the arts of painting and sculpture, and has done creditable work in Jaina art. The publication is naturally expensive, but fortunately the Gujrat state adequately financed it. The catalogue, no doubt, adds considerably to our knowledge of illustrated mss and art treasures in the Jaina Bhandaras. The authorities of the L. D. Institute deserve thanks for this valuable publication

LAGHU-TATTVA-SPPOTA—Ed. Prof. P. S. Jaini pub. L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1978, pages 258, price Rs 50/-

It is a newly discovered work of the famous Digambara saint, Amrtachandra Suri of the 10th century A. D. The work is divided into 25 chapters, each containing 25 verses in metric Sanskrit and in the form of independent stotras. The learned editor, Padmanabh S. Jain, professor of Buddhist studies at the university of California, Beskelay, is an crudite scholar who seems to have taken pains in editing this text and translating it into good English. In the beginning he briefly touches on the author, the available ms., the language and style of the work, and gives a detailed exposition of its subject

matter. Then follows the text, verse by verse both in the Nagri and Roman characters, with its lucid English translation, verse index, index of Sanskrit words and errata are appended at the end. It is a valuable and interesting publication.

SRAMANA TRADITION—by Dr. G. C. Pande, pub. by L. D. Inst. of Indology, Ahmedabad, 1978, pages 76, price Rs. 20/-

Here are the three lectures delivered by Dr. Pande, a learned professor of ancient Indian history and culture, in the L. D. Lecture series in Feb. 1977, giving his views on the Sramana tradition, its history and contribution to Indian culture. The first lecture deals with Sramanism as an outlook upon the world and its relationship to the tradition, the second with moral and social outlook of Sramanism, and the third with Sramanic critique of Brahmanism the lectures are prefaced by an illuminating introduction. The whole dissertation is quite thought-provoking.

STUDIES IN THE BHAGAWATISUTRA—by Dr. J C. Sikdar, pub. by Res. Inst. of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali, 1964, pages 660.

This is a thesis written by the Vaishali Research Institute and approved for the Ph. D. degree by the Bihar university. Bhagawati is the popular name of Vyakhyaprajnapti, the 5th Ānga of Shvetambara canon. and on account of its bulk and the encyclopaedic information it contains on various topics, it is regarded as one of the most important texts of that canon. The learned author has taken due pains in instituting these cultural studies deeply and critically. under eleven chapters, shedding useful light on the position of the Bhagawati in the canonical literature, its author, date, language and style, political, social and economic conditions, education system leaders of thought, historical data, cosmology and geography, and the Jaina doctrin, as reflected in this work. In the last chapter he evaluates the whole work. The book is readable and infor-

mative The learned author deserves congratulations. However, the author's fixation of the date of Mahaviras Nirvana as 475 B. C. and certain inferences such as about meat eating and wine-drinking by Jaina monks and nuns appear to be misguided and presumptuous.

A CRITICAL STUDY OF PAUMACARIYAM—by Dr. K. R. Chandra Pub. by the Vaishali Research Institute, 1970 pages 641

The Paumacariyam of Vimala Suri is an important and early Prakrit works which is also the earliest available Jaina version of the Rama story. This critical and comparative study of this epic and the cultural information contained in it was undertaken by the author at the Vaishali Institute and approved for the Ph D degree by the Bihar University. The work consists of 12 chapters, divided into two parts, the first dealing with the narrative material of this epic and the other with the various cultural aspects as reflected in it. It is an illuminating piece of good research work and testifies to the author's intelligent penetration and hard work Dr. Chandra rejects the date M E. 530 which is given by Vimalasuri himself in the concluding colophon of his work, and taking that date to be V S. 530 suggests that the original work must have been written in 473 A D. His arguments do not appear to be very convincing However, the present work is a valuable addition to Jainological studies and we congratulate the author for producing it. The Vaishali Institute is to be thanked for endeavouring to publish the approved thesis of its scholars.

STUDIES IN BUDDHIST AND JAINA MONACHISM by Dr. Nand Kishore Prasad, pub. Vaishali Research Insti. 1972, pages 284.

This is also a thesis of a scholar of the Institute and and approved for the Ph D. degree by the Bihar University It presents a critical and comparative study of the disciplinary codes of the Buddhist and Jaina ascetic orders that of the

former being based on the Vinaya texts and that of the latter primarily on the canonical leterature of the Shvetambara section of Jaina community. The book is divided into 5 chapters, besides an Introduction, bibliography, index and errata. The 1st chapter deals with the Jaina Acara and the Buddhist Vinaya, the 2nd with formation and development of the order, the 3rd with monastic ceremonies, the 4th with monastic administration, and the 5th giving concluding remarks. It is a good and readable book, but at places smacks of Brahmanical bias.

ANUOGADDARAIN—pub. by Vaishali Research Institute, 1970, pages 246.

This is an English translation, by Sri Taiken Hanaki, a Japanese research scholar of the Institute, of Anuyogadvara, an important canonical text of the Shvetambara tradition and believed to have been composed, by Aryarakshita Sthavira. In his learned and detailed Introduction, Dr. Nathmal Tatia, the Director of the Institute and General Editor of its Publications series, explains the theme and contents of this 'The Doors of Disquisition'. Mr. Hanaki's translation is lucid and appears to be faithful to the text. Five useful appendices at the end enhance its utility.

Rambhamanjari of Nayachandrasuri—Ed. & trad. by Dr. R. P. Poddar, pub. Vaishali Research Institute 1976, pages 64, price Rs. 4/-

It is an interesting Prakrit Sattaka a form of dramatic play, written in the 15th century A. D. The well-edited text with English translation and necessary foot notes is prefaced by a brief but learned introduction. Dr. Poddar has done justice to the work.

J. P. JAIN.

सूचना—

जैन सिद्धान्त भास्कर में समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ, जैन सिद्धान्त भवन आरा के पते पर आना आवश्यक है। पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेख सीधे—सम्पादक जैन सिद्धान्त भास्कर, ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ—१ (उ० प्र०) के पते पर भेजें जाय।

NOTICE.

Two copies each of books for review in the Jaina Antiquary should be forwarded to the secretary Jaina Siddhant Bhawan Arrah (Bihar)

Contribution for publication in the journal may be sent direct to the Editor—Jaina Antiquary, Jyoti Nikunj Charbagh, Lucknow 1 (U P.).